सरस्वती सिरीज़

हिन्दी के वैष्णव कवि



आठ आना

सरस्वती-सिरीज़

हिन्दी-साहित्य

हिन्दी के वैष्णव कवि

हिन्दी के वैष्णव काव्य का विवेचनात्मक
परिचय

व्रजेश्वर, एम० ए०

यदि आप अभी तक इस सिरीज़ के ग्राहक नहीं बने हैं तो ग्राहक बनने में शीघ्रता कीजिए। या पुस्तक के पृष्ठभाग पर दी हुई सूची में से अपनी पसंद की पुस्तकें चुनकर अपने स्थानीय पुस्तक-एजेंट से लीजिए।

सरस्वती-सिरीज़ नं० २५

हिन्दी के वैष्णव कवि

ब्रजेश्वर, एम० ए०

प्रकाशक

इंडियन प्रेस लिमिटेड

प्रयाग

Printed and Published by K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd., Allahabad.

विषय-प्रवेश

हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर एक सरसरी दृष्टि डालिए तो आपको स्पष्ट रूप से विदित हो जायगा कि हिन्दी-साहित्य का आरम्भ और विकास उन व्यक्तियों के द्वारा हुआ है, जिनका उद्देश्य मनोरञ्जन के लिए साहित्य का निर्माण करना नहीं, वरन् अपने धार्मिक और साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का प्रचार करना था। यद्यपि हिन्दी का आरम्भिक काल 'वीरगाथाओं का काल' कहा जाता है, और इसकी पुष्टि में चन्द बरदाई के पृथ्वीराज-रासो तथा कुछ अन्य छोटे-मोटे वीर या प्रशस्ति-काव्यों के उदाहरण दिये जाते हैं, परन्तु इन समस्त उदाहरणों की परीक्षा कर लेने पर विद्वानों का मत है कि भले ही हिन्दी के आरम्भिक युग में कतिपय वीर-काव्यों की रचना हुई हो, भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के विकास में इन काव्यों का मूल्य अधिक नहीं है। जो हो, हिन्दी-साहित्य के आरम्भ में ही हम पाते हैं कि हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्त में धार्मिक आन्दोलन आरम्भ हो गये थे और उन्हीं आन्दोलनों के फल-स्वरूप हिन्दी-भाषा में साहित्य-सर्जन आरम्भ हुआ जिसका आगे चलकर विकास और परिवर्द्धन हो सका।

हिन्दी का आदिकवि चाहे चन्द ही माना जाय, परन्तु न तो चन्द के द्वारा प्रयुक्त भाषा और न उसके भाव ही हिन्दी-साहित्य के विकास में

सहायक हो सके। जिस कवि की वाणी समस्त हिन्दी प्रदेश तथा उसके बाहर भी गूँज गई, तथा जिसकी कही हुई बातों को कई पीढ़ियों तक दुहराया गया, उसका नाम कबीर था। कहते हैं कि कबीर ने स्वयं कहा था—'मसि कागद छूयो नहीं; कलम गह्यो नहिं हाथ'। इसलिए कबीर ने जो कुछ कहा है—साखियों और शब्दों के रूप में। उन्होंने जो कुछ गाया है, उसका उद्देश्य लोक का मनोरञ्जन नहीं कहा जा सकता। कबीर शायद यह जानते भी नहीं थे कि आगे चलकर उन्हें कवि या महाकवि की उपाधि मिलेगी और उनका नाम हिन्दी के ही नहीं, समस्त संसार के उच्च कवियों में गिना जायगा। ऐसा इसलिए नहीं था कि उन्हें अपने विषय में नम्रता-पूर्वक सोचने की आदत थी। अपनी महत्ता के विषय में श्लाघापूर्ण कथन करने से वे नहीं चूकते थे। उन्होंने स्वयं कहा है—'सतगुरु का परवाना लाये हंस उधारन आये।' वास्तव में उनका उद्देश्य यही था। अपने धार्मिक और साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रचार की उन्हें लगन थी। इसी को पूरा करने के लिए उन्होंने वाणी का उपयोग किया है। यह एक संयोग की बात है कि उनकी वाणी में कुछ ऐसे गुण थे जिनके कारण वह न केवल देश के विस्तार में, बल्कि समय के विस्तार में भी, फैल गई, और आज तक वह हमारे लिए सुरक्षित है। हम उसे साहित्य कहते हैं।

कबीर के बाद उनके अनुयायियों ने भी प्रचलित लोकभाषा हिन्दी के द्वारा अपने सिद्धान्तों को प्रकाशित किया। साथ ही हिन्दी भाषा उन समस्त विचार-धाराओं को व्यक्त करने का माध्यम बन गई, जो समय समय पर हिन्दी-भाषी प्रदेश में प्रचलित हुईं। इन विचार-धाराओं में

आपस में कितनी भी भिन्नता हो, यह बात सब के लिए समान रूप से सच है कि उनका रूप और आत्मा धार्मिक भावों से ओत-प्रोत थी। कबीर के बाद हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी का नाम आता है, जिन्होंने लौकिक कथा के रूपक द्वारा अपने प्रेम-प्लावित सूफ़ी सिद्धान्तों को प्रचलित करने का यत्न किया। सूरदास और तुलसीदास के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि उन्हें भी अपने काव्य के द्वारा अपने-अपने सिद्धान्तों को लोकप्रिय बनाने की प्रबल आकांक्षा थी। सूरदास और तुलसीदास के काव्यों का साहित्यक जगत् में जितना मान है, धार्मिक जगत् में भी यदि अधिक नहीं तो उसके बराबर अवश्य है। इन कवियों ने हिन्दी-साहित्य को जो रूप दिया वही आगे चलकर विकसित हुआ। आज तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में तीसरा नाम नहीं लिया जा सकता जिसे हम सूर और तुलसी के समकक्ष रख सकें। हिन्दी-साहित्य में आरम्भ से धार्मिक भावनाओं का ही प्राधान्य रहा है।

धर्म और साहित्य का यह अन्योन्य सम्बन्ध हिन्दी के लिए नवीन बात नहीं है। संसार की दूसरी भाषाओं का साहित्य भी बराबर धार्मिक भावनाओं से प्रभावित होता रहा है। प्राचीन काल में जिस समय धर्म का उसी प्रकार बोलबाला था जिस प्रकार आजकल राजनैतिक और आर्थिक सिद्धान्तों का है, उस समय धर्म का साहित्य को इतना अधिक प्रभावित करना आश्चर्य की बात नहीं है। साहित्य सामाजिक और व्यक्तिगत भावनाओं और विचारों को ही तो प्रकाशित करता है।

परन्तु धर्म पर साहित्य का प्रभाव पड़ना एक बात है, और धर्म-प्रचार के लिए ही साहित्य का निर्माण करना दूसरी बात। हिन्दी के आरम्भिक

युग के लिए यदि हम यह कहें कि उसपर धार्मिक प्रभाव बहुत गहरे रूप में विद्यमान है, तो ठीक न होगा। और न यह कहना ही सर्वांश में ठीक है कि हिन्दी का आरम्भिक साहित्य धर्म-प्रचार के लिए लिखा गया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आरम्भ में कबीर ने अपने सिद्धान्तों और विश्वासों के व्यक्त करने के लिए प्रचलित लोक-भाषा का उपयोग मात्र किया था। उनके द्वारा उपयुक्त वाणी ही 'साहित्य' नाम की अधिकारिणी हो गई।

ऐसा क्यों हुआ ? धार्मिक सिद्धान्तों को पद्य में व्यक्त कर देने भर से कोई रचना साहित्य नहीं कहला सकती। इस प्रकार के पद्य-बद्ध सिद्धान्त ढेर के ढेर इकट्ठे किये जा सकते हैं, परन्तु हम उन्हें साहित्य की श्रेणी में नहीं रखते। किसी भी रचना को हम साहित्य तभी कह सकते हैं जब उसमें मनुष्य के मनोविकारों का चित्रण किया गया हो। मनुष्य के मनोविकार मनुष्य की प्रकृति के साथ स्थायी हैं, इसी लिए साहित्य को स्थायी कहा जाता है। साहित्य बनने की लेश मात्र भी आकांक्षा न रखता हुआ हमारा प्राचीन साहित्य साहित्य कहलाने का इसी लिए अधिकारी हो सका कि उसमें मनुष्य की उन भावनाओं का प्रकाशन हुआ है जो धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक किन्हीं भी सिद्धान्तों के बनने और मिटने के साथ बन और मिट नहीं सकतीं।

धर्म के प्रचार के लिए निर्मित साहित्य में साहित्य के समस्त आवश्यक गुणों का पाया जाना अनोखी बात समझी जा सकती है। परन्तु जब हम अपने उस साहित्य को देखते हैं, तब आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं रहता। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि अपने-अपने धार्मिक-सिद्धान्तों में दृढ़ और कठोर होते हुए भी, अत्यन्त भाव-प्रवण भक्त थे।

यही कारण है कि उनकी रचनाओं में हम सांप्रदायिक मतवाद की दृष्टि से कोई कमी न पाते हुए भी, सांप्रदायिक कारणों से उनके प्रति थोड़ा सा भी असम्मान नहीं दिखाते। हिन्दी का धार्मिक साहित्य उच्च साहित्य केवल इसी लिए बन सका कि उसमें भक्ति-भावना के कारण हृदय की कोमल से कोमल, और सूक्ष्म से सूक्ष्म, वृत्तियों को प्रकाशित होने का अवसर मिला है।

ऊपर सङ्केत किया जा चुका है कि हिन्दी भाषा में साहित्य-सर्जन कराने का सारा श्रेय धार्मिक आन्दोलनों को है, जिससे मध्य युग में सारा हिन्दी प्रदेश अनुप्राणित हो रहा था। इन समस्त धार्मिक आन्दोलनों के मूल में भक्ति-भावना का प्राधान्य था। यदि ऐसा न होता तो निश्चय ही हिन्दी-साहित्य का दूसरा ही रूप होता और सम्भव है कि हिन्दी को साहित्य का माध्यम बनने के लिए कुछ काल तक और प्रतीक्षा करनी पड़ती।

भक्ति-मूलक धार्मिक आन्दोलनों का आरम्भ बारहवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण से आरम्भ हुआ था। रामानन्द और वल्लभाचार्य तथा उनके शिष्यों के द्वारा उत्तर भारत में, विशेष कर हिन्दी-प्रदेश में, उनका प्रचार किया गया। इन्हीं की शिष्य-परम्परा में हिन्दी के महान् कवि हुए हैं। कबीर रामानन्द के शिष्य कहे जाते हैं। तुलसीदासजी भी उन्हीं की शिष्य-परम्परा में माने जाते हैं, या कम से कम उनसे सर्वाधिक प्रभावित बताये जाते हैं। सूरदास ने तो वल्लभाचार्य से दीक्षा ही ली थी। रामानन्द और वल्लभाचार्य अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार विष्णु के उपासक एवं भक्त थे। उनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति वैष्णव-भक्ति कही जा सकती है। सूरदास और तुलसीदास तो वैष्णव थे ही। कबीर आदि के विषय में आपत्ति की जा सकती है। उनकी भक्ति का

स्रोत मुसलमानी सूफ़ीमत बताया भी जाता है। मलिक मुहम्मद जायसी सूफ़ी-भक्त ही थे। परन्तु सूफ़ियों और वैष्णवों दोनों की भक्ति-भावना में बहुत कुछ समानताएँ हैं। उनके आधार पर हम कह सकते हैं कि बहुत सम्भव है दोनों एक दूसरे से प्रभावित हुए हों, या दोनों का मूल-स्रोत एक ही हो। फिर भी यदि इन समानताओं को संयोग-मात्र माना जाय, और मलिक मुहम्मद को वैष्णव प्रभावों से अछूता मान लिया जाय, तो भी मध्य युग का हिन्दी का अधिकांश साहित्य वैष्णव साहित्य ही कहा जायगा। कबीर यद्यपि निर्गुणवादी और अवतारवाद के विरुद्ध थे, फिर भी वैष्णव-भावनाओं का उनकी वाणी में इतना प्राधान्य है कि उन्हें हम मलिक मुहम्मद की तरह एकदम सूफ़ी प्रभाव के अन्तर्गत नहीं मान सकते। उनका रामानन्द का शिष्यत्व स्वीकार करना अर्थ से ख़ाली नहीं है। रामानन्द द्वारा प्रतिपादित और प्रचलित वैष्णव भावना कबीर में प्रचुर मात्रा में पाई जाती है।

हिन्दी-प्रदेश के बाहर होने के तथा भाषा की अपनी विशेषताओं के कारण मैथिल कवि विद्यापति का नाम नहीं लिया गया है। विद्यापति यद्यपि शैव थे, फिर भी उनकी पदावली बङ्गाली वैष्णवों के कण्ठ का हार रही है। चैतन्य महाप्रभु उनके पदों को गाते-गाते प्रेम-विभोर हो जाते थे। मथुरा-वृन्दावन-स्थित बङ्गाली वैष्णवों के द्वारा न केवल विद्यापति, वरन् चण्डीदास आदि भाव-प्रवण अ-हिन्दी कवियों की वाणी का प्रभाव भी यदि परवर्ती हिन्दी-साहित्य पर पड़ा हो तो आश्चर्य नहीं है।

ब्रज वैष्णव काव्य का केंद्रस्थल हो गया था। हिन्दी के अधिकांश भक्त कवि ब्रज से सम्बन्ध रखते थे। सूरदास, नन्ददास तथा अष्टछाप

के अन्य कवियों ने वैष्णव साहित्य और व्रजभाषा को उच्च स्थान पर पहुँचाने में जो कार्य किया है वह अप्रतिम है। अन्य संप्रदायों के भक्त हितहरिवंश, हरिदास आदि सभी ने भक्ति और काव्य की यमुना में अपनी वाणी की सुधा-धारा मिलाकर साहित्य को उच्च भूमियों पर स्थापित करने में योग दिया है।

उधर तुलसीदास ने राम-काव्य का सर्जन करके वैष्णव-भक्ति-मूलक साहित्य में मर्यादावाद का समावेश करके एक युगान्तर उपस्थित करने का प्रयत्न किया।

जिस प्रकार हिन्दी-प्रदेश के पूर्व में विद्यापति ने अपनी कोमल-कान्त-पदावली के द्वारा कृष्ण-भक्तों को अपनी भावनाएँ काव्य रूप में पाने का आयोजन किया, उसी प्रकार 'गिरधर गोपाल' की मतवाली मीरा ने राजस्थान के मरुस्थल में अपने अनन्य कृष्ण-प्रेम की सरस्वती प्रवाहित कर दी।

आज हिन्दी-साहित्य को विश्व-साहित्य में सम्मानित स्थान दिलाने का सारा श्रेय इन वैष्णव कवियों को ही है।

वैष्णव कविता हिन्दी-साहित्य के 'भक्तिकाल' कहे जानेवाले युग में ही सीमित नहीं रह गई। सूरदास का कृष्ण-काव्य केवल पुष्टिमार्गीय वैष्णव मतवाद की दृष्टि से ही उच्च कोटि का न था, उसमें ऐहिक-दृष्टि से लोकरञ्जन करनेवाले साहित्य के समस्त गुण भी विद्यमान थे। राधा और कृष्ण का प्रेम भक्ति की घाटियों में होता हुआ साहित्य की उस भूमि पर पहुँच गया, जहाँ काव्यशास्त्र के द्वारा उसकी परख होनी आरम्भ हो गई।

परन्तु 'रीति-काल' कहा जानेवाला हिन्दी-साहित्य का युग वैष्णव भक्ति-भावना से सर्वथा शून्य नहीं है। सच तो यह है कि भक्ति के द्वारा

वैष्णव मतवाद इतना सरस, मधुर और रागात्मक बना दिया गया था कि लौकिक रागात्मकता और सरसता से उसे अलग कर सकना संभव ही नहीं था। भक्तों की जीवनियाँ पढ़ने से पता लगता है कि जो व्यक्ति धार्मिक और सामाजिक सदाचार के दृष्टिकोण से अत्यन्त पतित माना जाता था, वही उच्च कोटि का भक्त हो गया है। केवल उसे अपनी आसक्ति के आश्रय को लौकिक व्यक्ति के बदले प्रेम के प्रतीक राधा और कृष्ण को बना लेने की देर थी। रसखान और घनानन्द ऐसे ही व्यक्ति थे। इन कवियों पर हिन्दी-साहित्य को गर्व है, और भक्तों को उनकी जीवनियों से आदर्श की शिक्षा मिलती है।

धर्म और साहित्य के इस सम्पर्क ने सम्भव है धर्म को हानि पहुँचाई हो, परन्तु जो भक्त विद्यापति के पदों को सुन कर गद्गद हो सकते हैं; वे बिहारी, मतिराम, देव, दास आदि कवियों के काव्य में भी प्रकृत वैष्णव-भाव का दर्शन कर सकते हैं। ये कवि काव्य की जिस सामग्री का उपयोग कर रहे थे, चाहे जान-बूझकर प्रलोभनों में पड़कर या बे जाने अयोग्यता वश, उसका दुरुपयोग कर गये हों, परम्परा के विचार से वे उसी श्रेणी में आते हैं जिसमें सूरदास प्रभृति भक्त कवि।

काव्य की वह परम्परा अबाध गति से रीति-काल को पार करती हुई आधुनिक काल तक चली आई है। आधुनिक काल के वैष्णव-काव्य पर ऐहिकता का दोषारोप उसी मात्रा में किया जा सकता है जिस मात्रा में रीतिकालीन कविता पर। परन्तु हरिश्चन्द्र, रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न आदि कवियों में भक्ति-भावना का अभाव मानना अन्याय होगा। इन

आधुनिक कवियों में भी वैष्णव कवियों का भावावेश और भक्ति की गहनता प्रचुर मात्रा में मिल जाती है।

आधुनिक युग के सामाजिक सुधार-मूलक विचार भी वैष्णव काव्य के द्वारा व्यक्त किये गये हैं। कविवर अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त ने कृष्ण और राम के व्यक्तित्व में युग-भावनाएँ भरने का भी यत्न किया है। उनके काव्यों में हम आधुनिक युग की जागृति का उन्मेष, लोक-भावना का आन्दोलन तथा सामूहिक विचारों का चिन्तन पाते हैं।

यद्यपि वर्तमान काल में हिन्दी में वैष्णव-साहित्य को आधुनिकता के दृष्टिकोण से प्रतिगामी और निम्न कोटि का समझने की चाल सी पड़ गई है, फिर भी एक छोटे से बौद्धिक वर्ग को छोड़कर, समाज में वैष्णव-भावनाओं का प्रभाव अब भी कम नहीं है। राम और कृष्ण की भक्ति और राम-नाम का कीर्त्तन, अब भी खूब जारी है। विचारों के जगत् में भी महात्मा गान्धी का प्रभाव इतना अधिक है कि हमारे साहित्य को उससे अछूता नहीं रखा जा सकता। महात्मा गान्धी के विचारों में वैष्णव-विचार-धारा का प्राधान्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैष्णव-विचारों ने हिन्दी-साहित्य का आरम्भ से लेकर आधुनिक काल तक शासन किया है; और आगे चलकर भी हिन्दी-साहित्य उन विचारों से प्रभावित होता रहेगा, इसमें सन्देह नहीं। हिन्दी के वैष्णव काव्य और कवियों की महत्ता दिखाते हुए उनके काव्य की विशेषताओं की ओर सङ्केत करना ही इस पुस्तक का उद्देश्य है।

——

वैष्णव काव्य का उद्गम और उसका वातावरण

एक बार नारदजी मनुष्यलोक में विचरण करने के लिए निकले। पुष्कर, प्रयाग, काशी, गोदावरी, हरद्वार, कुरुक्षेत्र, श्रीरङ्ग, सेतुबन्ध आदि अनेक तीर्थों में भ्रमण करते हुए उन्होंने देखा कि कल्याणकारी धर्म का कहीं लेशमात्र भी नहीं है। अधर्म के साथी कलियुग ने समस्त पृथ्वी-मण्डल दूषित कर रखा है। सत्य, तप, दया, दान का नाम नहीं; चारों ओर तुच्छता, स्वार्थ, पीड़ा, रोग, पाखण्ड, दरिद्रता, कलह, व्यभिचार आदि का राज्य है। यवन-तुल्य दुराचारी दुष्टों ने ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों को दूषित कर रखा है; तीर्थों और देवमन्दिरों में दुराचार फैला हुआ है! सब जगह अन्न का अकाल है। स्त्रियाँ कुलटा हैं और पुरुष लम्पट। नारद के मन को बड़ी पीड़ा हुई। विचरते-विचरते वे यमुना के किनारे पहुँचे। देखते क्या हैं कि एक खिन्नमना युवती बैठी हुई रो रही है। उसके पास ही दो वृद्ध पुरुष अचेत पड़े हुए उलटी साँसें ले रहे हैं।

नारद जी ने पूछा—'हे सुन्दरी, तुम कौन हो? ये दोनों वृद्ध कौन हैं? तुम्हारे दुःख का क्या कारण है?'

स्त्री ने कहा—'महात्मन्, मेरा नाम भक्ति है, और ये दोनों ज्ञान और वैराग्य नामक मेरे पुत्र हैं; लेकिन ये कालवश इस समय जराजीर्ण से लगते हैं। महात्मन्, मेरे दुःख का कारण भी सुनिए। मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई,

कर्णाटक देश में पाली-पोसी गई, उसके वाद महाराष्ट्र प्रान्त में क्षय से पीड़ित होकर गुर्जर देश में पहुँची। जीर्ण तो थी ही, कलियुग के प्रभाव से मदमत्त लोगों ने मेरा अङ्गभङ्ग कर डाला। ज्यों-त्यों अपने पुत्रों के साथ मैंने इसी प्रकार दुःख के वहुत से दिन विता दिये। वहाँ से किसी प्रकार मैं यहाँ वृन्दावन में आ सकी हूँ। यहाँ आते ही मेरे तो सारे अङ्ग पुष्ट हो गये और मैं वृद्धा से युवती हो गई, परन्तु मेरे ये दोनों पुत्र अव भी उसी प्रकार वृद्ध और निर्जीव से हैं। मेरे शोक का कारण यही है कि माता होकर मैं तो जवान हूँ, और मेरे पुत्र वृद्ध हैं।'

नारदजी ने युवती को आश्वासन दिया और वताया कि कलियुग के विनाशकारी प्रभाव से ही सब बातें उलटी हो रही हैं। 'किन्तु धन्य है यह वृंदावन धाम, जिसमें तुम फिर नवयुवती हो गई। फिर भी ज्ञान और वैराग्य नामक तुम्हारे पुत्रों का यहाँ भी कोई गाहक नहीं है; ये आत्म-सुख से सोये से जान पड़ते हैं।'

भक्ति ने पूछा—'मैं क्या करूँ ?'

नारद जी ने उसे स्मरण दिलाया कि एक बार स्वयं भगवान् से यही प्रश्न करने पर उन्होंने तुम्हें उत्तर दिया था--'मेरे भक्तों को पुष्ट करो; मैं मुक्ति नाम्नी दासी तुम्हें देता हूँ।'

उपर्युक्त आख्यान श्रीमद्भागवत-माहात्म्य से उद्धृत किया गया है। उसका निर्माण-काल निश्चित करना हम इतिहास के अन्वेषकों के लिए छोड़ते हैं। हमारे प्रयोजन के लिए इतना काफ़ी है कि कदाचित् उपर्युक्त आख्यान उस काल की ओर सङ्केत करता है जब दक्षिण के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित वैष्णव-भक्ति उत्तर भारत अर्थात् मध्य देश में अपना प्रभाव जमा रही थी।

यों तो सांप्रदायिक लोग, तथा कुछ बाल की खाल निकालनेवाले अन्वेषक भी भक्ति का मूल-स्रोत वेदों को बताते हैं, और वेदों में से विष्णु तथा देवकी-पुत्र कृष्ण का नाम खोजकर ले आते हैं, जिससे कि उनके कथन की पुष्टि हो। परन्तु वेदों को समस्त विद्याओं की कामधेनु मानते हुए भी, हम इतना कह सकते हैं कि वैष्णव भक्ति का वह स्वरूप जिसके दर्शन हमें अपने कवियों की रचनाओं में मिलते हैं, इतना पुराना नहीं है। उपनिषदों में अवश्य एक प्रकार की भक्ति-भावना का वातावरण मिल जाता है, पर उसका कोई निश्चित रूप नहीं है।

ईसवी पूर्व पाँचवीं-छठी शताब्दी के लगभग कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया में वासुदेव-धर्म के प्रचार के कुछ प्रमाण मिलते हैं। यह वास्तव में एक प्रकार का धार्मिक और सामाजिक सुधार था जिसका मुख्य उद्देश्य उदारता, अहिंसा, और सदाचार का प्रचार तथा भगवान् की भक्ति था। बौद्ध-धर्म का समकालीन होते हुए भी इसमें निरामिष यज्ञों का विरोध नहीं था। यही वासुदेव धर्म, बाद में भागवत, नारायणी और वैष्णव नामों से अभिहित हुआ।

किन्तु मध्य देश में उस समय इसका अधिक प्रचार नहीं हुआ। बौद्ध-धर्म के आगे सभी परास्त हो चुके थे। दक्षिण के आलवार सन्तों के द्वारा इसका पोषण हुआ। नाथ मुनि पहले आचार्य थे; परन्तु वैष्णव धर्म की प्रबल धारा बहाने का बहुत बड़ा श्रेय यामुन मुनि के शिष्य श्री रामानुजाचार्य को है। रामानुजाचार्य का समय १०१६ ई० से ११३६ ई० है। रामानुजाचार्य के अतिरिक्त जिन आचार्यों ने वैष्णव-भक्ति फैलाने में भारी परिश्रम और साधना की उनमें मध्वाचार्य (लगभग १२०० ई०),

निम्बार्क स्वामी (बारहवीं शताब्दी), विष्णु स्वामी (तेरहवीं शताब्दी) तथा वल्लभाचार्य (जन्म १४७६ ई०) के नाम उल्लेख योग्य हैं।

ये समस्त आचार्य दक्षिण देश के ही थे। अतः भक्ति का उपर्युक्त यह कथन कि उसका जन्म दक्षिण में हुआ था, अर्थहीन नहीं है। आचार्यों के समय से हम भक्ति-आन्दोलन के आरम्भ का भी लगभग ठीक ठीक अनुमान लगा सकते हैं। उक्त आचार्य प्राचीन काल के ऋषि-मुनियों की भाँति नहीं थे जो जन-समूह से दूर वनों में बैठकर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते। यद्यपि इन सभी ने शङ्कर के अद्वैत ब्रह्मवाद के विरुद्ध अपने-अपने 'वादों' के द्वारा दार्शनिक विचारों पर गम्भीर मनन और चिन्तन किया था; फिर भी बुद्ध और शङ्कराचार्य की ही भाँति उनमें भी प्रचार की धुन, जिसे आजकल 'मिश्नरी स्पिरिट' कहते हैं, पूर्ण रूप से मौजूद थी। इसलिए बारहवीं शताब्दी से ही भारतीय जनता में भक्ति की लहरें हिलोरें लेने लगीं।

सभी प्रचारक परिव्राजक थे और उनकी अपील सीधी जनता से होती थी, अतः दक्षिण में जन्म लेकर भी उनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति ने शीघ्र ही उत्तर भारत को भी आन्दोलित करना आरम्भ कर दिया। स्वयं निम्बार्क स्वामी दक्षिण से भगवद्भक्ति का सन्देश उत्तर भारत में लाये। वे तैलङ्ग ब्राह्मण और आधुनिक बिलारी ज़िले के निम्बापुर गाँव के रहनेवाले थे। उनके पिता जगन्नाथजी परम भागवत थे। निम्बार्क वैष्णव तो थे ही, पर उन्होंने विष्णु के कृष्णावतार रूप को अपनी भक्ति के लिए चुना और कृष्णलीला की पवित्र भूमि वृन्दावन में आकर अपने मत का केन्द्र स्थापित किया। उनके मत में परब्रह्म कृष्ण प्रकृति-रूप राधा के साथ

उपास्य देव हैं। ब्रह्मा, शिव आदि देव भी कृष्ण के पदाम्बुजों की आराधना करते हैं। समस्त जीव उनके आश्रित हैं; उन्हीं की कृपा से उनकी भक्ति प्राप्त होती है। भक्तों के कल्याण के ही लिए सच्चिदानन्द कृष्ण ध्यान योग्य शरीर धारण करते हैं। जो उनके निवास, स्वरूप, कृपा और प्रमोद को जानते हुए उनका शरणापन्न होता है उसी को उनकी भक्ति प्राप्त होती है। निम्बार्क स्वामी का देहान्त-समय सन् ११६२ ई० के लगभग बताया जाता है। अतः उत्तर भारत में कृष्ण और राधा की भक्ति का सम्यक् उद्योग बारहवीं शताब्दी से ही आरम्भ हो गया था। ब्रज तथा भाव-प्रवण बङ्गवासियों में राधा-कृष्ण की भक्ति का विशेष प्रचार हुआ।

निम्बार्क से भी पहले रामानुजाचार्य ने दक्षिण में वैष्णव मत का प्रचार आरम्भ कर दिया था। उन्होंने बताया कि ईश्वर सत्, चित् और आनन्द रूप है; नाम-रूपात्मक सृष्टि में उसके सत् और चित् रूप का दर्शन होता है। भक्तों के लिए वह व्यूह, विभव, अर्चा और अन्तर्यामी के रूप में प्रकट होता है। रामानुज ने नारायण नाम से हरि की उपासना और भक्ति का उपदेश दिया। उन्होंने कृष्ण या राम की आराधना का कोई उल्लेख नहीं किया। ज्ञान और कर्म को उन्होंने भगवद्भक्ति का सहायक और पोषक बताया। रामानुजाचार्य का समय सन् १०१६ ई० से ११३६ ई० बताया जाता है; परन्तु उत्तर भारत में उनके सिद्धान्तों का प्रचार चौदहवीं सदी में रामानन्द के द्वारा किया गया। रामानन्द ने राम को ईश्वर का अवतार माना और उनके साथ जगज्जननी सीता की आराधना का भी समावेश किया। राम और सीता की यह पूजा कदाचित्

राधा-कृष्ण की भक्ति के ही अनुकरण में प्रचलित की गई थी। उस समय राधा-कृष्ण-भक्ति का काफ़ी प्रचार हो गया होगा।

तेरहवीं शताब्दी में वैष्णव मत के प्रचार में विष्णु स्वामी ने और अधिक योग दिया। उनके उत्तराधिकारी ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन और वल्लभ थे। पहले तीन भक्तों ने विष्णुस्वामी की शिक्षाओं को महाराष्ट्र प्रदेश में फैलाया। वल्लभाचार्य ने जिनका जन्म सन् १४७६ ई० में हुआ था इलाहाबाद के पास अडेल नामक गाँव में अपना निवास-स्थान बनाया। मथुरा और वृंदावन में भी उन्होंने अपना बहुत सा समय बिताया। श्रीनाथ जी ने गोपाल कृष्ण के रूप में उन्हें गोवर्द्धन पर दर्शन दिया और सेवा-मार्ग के प्रचार की आज्ञा दी। तदनुसार वल्लभाचार्य ने 'पुष्टिमार्ग' की स्थापना की। भगवान् के अनुग्रह का ही नाम पुष्टि है, जो कृष्ण या हरि भगवान् पर सर्वस्व समर्पण कर देने से प्राप्त हो सकती है। जिस प्रकार गाय स्वयं अपने बच्चों के पीछे-पीछे फिरती है, उसी प्रकार कृष्ण अपने प्रपन्न भक्तों की सब प्रकार की रक्षा करते हैं। सूरदास ने कहा है—

हरि सौं ठाकुर और न जन कौं।

जिहिं जिहिं बिधि सेवक सुख पावै, तिहिं बिधि राखत मन कौं।
भूख भये भोजन जु उदर कौं तृषा तोय पट तन कौं।
लग्यो फिरत सुरभी ज्यों सुत सँग औचट गुनि गृह बन कौं।
परम उदार चतुर-चिंतामनि कोटि कुबेर निधन कौं।
राखत है जन की परतिज्ञा हाथ पसारत कन कौं।

जीव ईश्वर का अंश है, और जब वह प्रेम-भक्ति-व्यसन की अवस्था में सर्वत्र हरि को देखने लगता है, तब वह कृष्ण की सनातन लीलाओं में, अमर वृंदावन की क्रीड़ा में उसी प्रकार सम्मिलित होने के योग्य हो जाता है, जिस प्रकार गोप और गोपियाँ।

वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ गोस्वामी ने भी पुष्टिमार्गीय भक्ति के प्रचार में विशेष उद्योग किया; और सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविन्दस्वामी नामक आठ भक्तों के नाम से अष्टछाप की स्थापना की। स्वयं वल्लभ ने कृष्ण की समस्त दिनचर्या शयन-स्नान भोग-राग में विभक्त करके निश्चित की थी। गोपाल कृष्ण की लीलाओं को प्रधानता देने से गोपियों की पूजा का भी विधान किया गया था। विट्ठलनाथ ने राधा को गोपियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान देकर उनको परब्रह्म कृष्ण के साथ प्रकृति-रूप में पूजने की व्यवस्था कर दी। वल्लभाचार्य की शिक्षाओं में सांसारिकता को हेय और त्याज्य नहीं माना गया था, इसलिए इनके अनुयायियों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती गई। वैष्णव भक्ति की चर्चा वातावरण में गूँज गई।

उधर बङ्गाल में साक्षात् प्रेम-स्वरूप राधा और कृष्ण की भक्ति का प्रचार हो ही रहा था। महाकवि जयदेव की कोमल-कान्त पदावली भाव-प्रवण हरिभक्तों में सुधावर्षण कर रही थी। भाषा-कवि चण्डीदास ने भी अपने भावुकतापूर्ण गीतों के द्वारा प्रेम-भक्ति के वातावरण में एक नई हिलोर उठा दी। इसी वातावरण में महाप्रभु चैतन्य देव का प्रादुर्भाव हुआ। उनका समय १४८५ ई० से १५३३ ई० माना जाता है। उन्होंने भी गोपालकृष्ण की आराधना पर ज़ोर दिया। कृष्ण-प्रेम

पराकाष्ठा पर पहुँचने पर भक्त राधा-रूप हो जाता है। कृष्ण ही भक्त पर प्रसन्न होकर उसके हृदय में महाभाव की प्रेरणा करते हैं। समस्त जीवों के आश्रय परब्रह्म कृष्ण ही हैं। चैतन्य सिद्धान्त-रूप से निम्बार्क-स्वामी के अनुयायी कहे जा सकते हैं। किन्तु उन्होंने उपासना और पूजा को प्राधान्य न देकर कृष्ण-लीला तथा कृष्ण-नाम के कीर्त्तन का प्रचार किया। कृष्ण की लीलाओं के गायन में उनकी मण्डली तन्मय हो जाती थी; उन्हें आत्म-सुधि भी नहीं रहती थी।

इन सभी आचार्यों ने शंकराचार्य के निर्गुण अद्वैतवाद और मिथ्यावाद के विरोध में अपने-अपने सिद्धान्तों को प्रचलित किया था। इस कार्य में उनका प्रस्थान-त्रयी से चलना अनिवार्य था। परन्तु जिस एक ग्रन्थ से मध्यकालीन भारतीय जन-समाज सबसे अधिक प्रभावित हुआ वह श्रीमद्भागवत था। भागवत की कथा कदाचित् सबसे अधिक प्रचलित थी। यद्यपि विष्णु, हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों ने भी भक्ति के प्रचार में बहुत अधिक योग दिया, फिर भी जितना भागवत का प्रभाव था उतना किसी का नहीं। मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलनों को समझने के लिए भागवत का अध्ययन ज़रूरी है। इसी बात की ओर सङ्केत करने के लिए हमने इस अध्याय के आरम्भ में भागवत-माहात्म्य से उक्त उद्धरण दिया है।

ऊपर के कथन से यह स्पष्ट हो गया है कि बारहवीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी तक उत्तर भारत में वैष्णव-भक्ति का खूब ज़ोर था। जनता में भक्ति की आम चर्चा थी। समाज के इसी आन्दोलन का प्रतिबिम्ब हमारे तत्कालीन हिन्दी-साहित्य में दिखाई देता है। उस समय का हिन्दी-का समस्त साहित्य भक्ति-भावना से ओत-प्रोत है।

जिस समय जनता में भक्ति के प्रचार की धूम थी, संयोग से वही समय भारत में इस्लामी संस्कृति और विचार-धारा के प्रवेश का है। इस्लाम के अन्तर्गत भी सूफ़ी नाम का एक सम्प्रदाय था, जिसमें प्रेम-पूर्ण भक्ति की प्रधानता थी, और आचार की अपेक्षा उसे श्रेष्ठ समझा जाता था। कुछ सूफ़ी मुसलमान भक्त मुसलमान शासकों के द्वारा भारत-विजय होने के पहले से ही भारतवर्ष में आ गये थे, और शान्तिपूर्वक जनता में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। परन्तु भारतीय भक्ति-आन्दोलनों पर उनका कुछ उल्लेखयोग्य प्रभाव पड़ा हो, ऐसी बात नहीं मालूम होती। ध्यान से देखा जाय तो यह ऐसा समय था जब भक्ति-भावना के प्रायः एक-से विचार समस्त सभ्य संसार में प्रचलित थे। योरप के इतिहास में भी यह युग भारत की भाँति धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों का युग था। समाज में एक नई जाग्रति, एक नया जोश उमड़ रहा था। कुछ विद्वानों के विचार से भारत का यह धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन इस्लाम की राजनैतिक विजय और इस्लामी शासकों के नृशंस व्यवहार की प्रतिक्रिया में उठ खड़ा हुआ था। संसार में कोई शरण्य न पाकर जनता निराश हो रही थी; भगवान् की कृपापूर्ण रक्षा का आश्वासन मिलते ही वह भक्ति की ओर झुक पड़ी। सम्भव है, इस कथन में कुछ सार हो; परन्तु भक्ति-युग के आरम्भिक कवियों में हमें इस्लाम के प्रति विद्वेष और मुसलमानों के व्यवहार के विरुद्ध प्रतिक्रिया के स्पष्ट लक्षण नहीं मिलते। फिर भी भागवत के उक्त अवतरण से यह तो मालूम ही होता है कि समाज की आर्थिक और नैतिक दशा शोचनीय थी, चाहे उसका उत्तरदायित्व विदेशी शासकों पर हो या स्वयं प्राचीन काल से

उत्तरोत्तर बिगड़ती हुई सामाजिक व्यवस्था पर। संसार के सत्ता-संग्राम में हारे हुए मनुष्य को वैष्णव-भक्ति ने पारलौकिक सुख-वैभव की आशा बँधाकर जीवन को ज्यों-त्यों ढोने के लिए नहीं, बल्कि उत्साह के साथ, लगन के साथ बनाये रखने के लिए प्रोत्साहित किया। भागवत के शब्दों में भक्ति ने भक्तों को 'पोषण' प्रदान किया।

यों तो समस्त मध्य युग में अर्थात् सन् १४०० ई० से १८०० ई० तक वैष्णव-भक्ति की गर्मागर्म चर्चा रही है; और इस काल के समस्त साहित्य में उसका रूप दिखाई देता है; फिर भी १४०० ई० से १६०० ई० तक समाज और साहित्य पर भक्ति-भावना का जैसा एक-छत्र शासन रहा है, वैसा कभी नहीं रहा। इसी लिए इस काल को हिन्दी-साहित्य में 'भक्ति-काल' के नाम से पुकारते हैं।

भक्ति-काल के हिन्दी काव्य को चार प्रधान धाराओं में विभाजित किया जाता है—

(१) संत-काव्य की धारा।

(२) सूफ़ी-काव्य की धारा।

(३) कृष्ण-काव्य की धारा।

(४) राम-काव्य की धारा।

(१) यद्यपि रामानन्द के नाम से भी ग्रन्थ साहेब में दो एक पद हैं, फिर भी संत-काव्य के आदि-प्रवर्तक कबीर ही माने जाते हैं। सन्त-काव्य को वैष्णव-साहित्य से अलग रखा जाता है, क्योंकि न तो सन्त-मत के अनुयायी विष्णु के किसी अवतार में विश्वास करते हैं, और न मूर्त्तिपूजा करते हैं। फिर भी इन दो प्रधान बातों को छोड़कर सन्त-मत और

सन्त-काव्य दोनों में अधिकांश ऐसी बातें हैं जो वैष्णव मत और वैष्णव-साहित्य से समानता रखती हैं। केवल यही नहीं कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे, इसलिए उन पर वैष्णव प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। रामनाम की दीक्षा तो उन्होंने ली ही थी—सबसे मुख्य कारण वह वैष्णव वातावरण है जिसके प्रभाव से अछूता रहना सम्भव नहीं था। कबीर के बाद नानक, दादू आदि अन्य प्रसिद्ध सन्त कवि हुए हैं।

(२) इसी वातावरण में सूफ़ी भक्त मलिक मुहम्मद जायसी ने भी अपने पद्मावत की रचना की थी।

सूफ़ियों के साहित्य से भी वैष्णव-प्रभावों के उदाहरण दिये जा सकते हैं; परन्तु सूफ़ी भक्ति-परम्परा स्वयं भक्ति की एक प्रबल धारा थी; अतः हम सूफ़ी काव्य की धारा को वैष्णव-साहित्य से बाहर मान सकते हैं। यद्यपि बाद में भी उसमान, शेख़ नबी आदि कवि इस धारा में हुए हैं; फिर भी हिंदी-साहित्य पर इन सूफ़ी कवियों का—विचार-धारा के दृष्टि-कोण से कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

भक्ति-साहित्य की शेष दो प्रबल धाराएँ, जिनके द्वारा हिन्दी-साहित्य का विकास हुआ, शुद्ध वैष्णव-भक्ति की धाराएँ थीं।

(३) कृष्ण-काव्य की धारा के आदि-प्रवर्त्तक सूरदास जी माने जा सकते हैं। सूरदास ने स्वयं पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य से दीक्षा ली थी। अष्टछाप के अन्य कवि नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी ने भी हिन्दी-साहित्य में अपनी रचनाओं के द्वारा योग दिया है। प्रसिद्ध भक्त कवि रसखान भी गोस्वामी विट्ठलनाथ के ही शिष्य थे।

उपर्युक्त पुष्टिमार्गीय कवियों के अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति के अन्य सम्प्रदायों के अनुयायियों में भी हिन्दी के कवि हो गये हैं। **हितहरिवंश** ने, जो मध्वाचार्य के अनुयायी थे, स्वयं राधावल्लभी सम्प्रदाय की स्थापना की और वृन्दावन को अपने सम्प्रदाय का केन्द्र बनाया। इसी सम्प्रदाय के अन्य कवियों में **हरीराम व्यास** और **ध्रुवदास** के नाम प्रसिद्ध हैं। निम्बार्क मत के अनुयायी **स्वामी हरिदास** ने टट्टी सम्प्रदाय की नींव डाली। निम्बार्क सम्प्रदाय के ही अनुयायी **श्री भट्ट कवि** भी थे। श्री चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों में भी हिन्दी के एक कवि **गदाधर भट्ट** थे। ये भी वृन्दावन में रहते थे। इनके अतिरिक्त एक सूरदास मदनमोहन नामक कवि हो गये हैं, जो गौड़ीय सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

व्रज कृष्णभक्ति का केन्द्र हो गया और यहाँ से भक्ति की पयस्विनी प्रवाहित होकर समस्त मध्यदेश तथा उसके बाहर की जनता को भी प्रेम-प्लावित करने लगी। व्रज में सभी सम्प्रदायों के मन्दिर बन गये। यद्यपि पुष्टिमार्ग का प्रधान मंदिर, जो श्रीनाथजी के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध था, बाद में औरंगज़ेब के शासनकाल में वृन्दावन से उठकर नाथद्वारे में चला गया; फिर भी पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत अन्य गद्दियों के केन्द्र वृन्दावन में बराबर बने रहे।

व्रज प्रदेश के बाहर हिन्दी के दो अत्यन्त प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवि और हुए हैं। एक हैं मैथिल-कोकिल विद्यापति और दूसरी मीराबाई। विद्यापति यद्यपि वैष्णव नहीं थे, फिर भी उन्होंने अपनी पदावली में राधा-कृष्ण के प्रेम का चित्रण किया है, जिसमें महाकवि जयदेव के काव्य का लालित्य और सरसता तथा चण्डीदास की भक्ति-भावना और तन्मयता

मिलती है। मीराबाई कृष्ण की अनन्य भक्त थीं; स्वयं राधारूप होकर उन्होंने कृष्ण-प्रेम में अपने को खो दिया था। इसलिए हम उन्हें निम्बार्क-मतानुयायियों और चैतन्य महाप्रभु के समकक्ष रख सकते हैं। विद्यापति की पदावली की भाषा मैथिली और मीराबाई की राजस्थानी थी। शेष सभी कृष्णभक्त कवियों ने व्रजभाषा में ही अपने-अपने काव्य का प्रणयन किया है।

(४) रामानुजाचार्य की चौथी या पाँचवीं शिष्यपरम्परा में रामानन्द हुए थे। रामानन्द ने श्री-सम्प्रदाय की स्थापना की और सीताराम को इष्टदेव मानकर रामानुजाचार्य के मतानुसार मर्यादा-सम्मत उपासना-प्रधान वैध-भक्ति का प्रचार किया। रामानन्द की एक शिष्यपरम्परा में रैदास, कबीर, धन्ना, सेना आदि थे, जिन्होंने सन्त-काव्य के द्वारा हिन्दी-साहित्य के भाण्डार को भरा; और दूसरी शिष्य-परम्परा में गोस्वामी तुलसीदास बताये जाते हैं जिन्होंने कृष्ण-भक्ति के आमने-सामने रामभक्ति को अत्यन्त आकर्षक रूप में उपस्थित किया। रामभक्ति के रूप में उन्होंने वैष्णवभक्ति का वह रूप जनता के सामने रखा जिसमें तन्मयता होते हुए भी, आत्म-समर्पण की भावना होते हुए भी, मर्यादा को कभी नहीं छोड़ा गया है। परन्तु रामभक्ति उतनी लोक-प्रिय न हो सकी, जितनी कि कृष्णभक्ति। साहित्य के क्षेत्र में भी तुलसीदास के बाद कोई प्रसिद्ध कवि नहीं हुआ। अग्रदास, नाभादास, प्राणचन्द चौहान और हृदयराम ने अवश्य रामभक्ति की परंपरा में हिन्दी-साहित्य में योग दिया है। जिस प्रकार व्रज कृष्णभक्ति का केन्द्र था उसी प्रकार अयोध्या रामभक्ति का केन्द्र हो गया। रामकाव्य में अवधेश राम के प्रदेश की भाषा अवधी का प्राधान्य है। कृष्णभक्ति के ही

अनुकरण पर बाद में रामभक्ति के अंतर्गत भी शृंगारी भावनाओं का समावेश होने लगा और राम के सम्बन्ध में भी साकेत धाम की रासलीला, विहार आदि की कल्पना की जाने लगी। परन्तु ऐसा करने से रामभक्ति उस आदर्श से च्युत हो गई, जिस पर उसे तुलसीदासजी ने स्थापित किया था। इससे प्रकट होता है कि कृष्ण-भक्ति की लोकप्रियता और आकर्षण अप्रतिम था।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि यद्यपि वैष्णव-भावना हिन्दी के लगभग समस्त भक्ति-साहित्य में विद्यमान है, फिर भी न केवल सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य में वरन् स्वयं वैष्णव मतवाद में दो बड़े-बड़े सम्प्रदाय हैं। इन दो बड़े राम और कृष्ण-भक्ति के सम्प्रदायों में भी कम से कम कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत अनेक और सम्प्रदाय हैं। इस प्रकार वैष्णव-भक्ति और वैष्णव-काव्य कई छोटे-छोटे साम्प्रदायिक विभागों में बँट जाता है। इतना सब होते हुए भी समस्त भक्ति-साहित्य में वैष्णव-भावना-सम्मत कुछ ऐसी समानताएँ हैं, जिन्हें जान लेने पर भक्ति-साहित्य और विशेष कर वैष्णव-साहित्य का एक सुलझा हुआ रूप हमारे सामने आ जाता है। अतः इसके पहले कि हम प्रत्येक धारा के अन्तर्गत विभिन्न कवियों और उनकी विशेषताओं से परिचय प्राप्त करें, हमें सामान्य रूप से समस्त भक्ति-साहित्य और विशेष रूप से वैष्णव-साहित्य पर एक सरसरी दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

हिन्दी का वैष्णव-साहित्य

अ—समस्त भक्ति-साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

(१) व्यक्तिगत ईश्वर और भक्ति

'जब नंददास जी श्रीनाथ जी के दर्शन कूँ गये तब तुलसीदास हूँ उनके पीछें पीछें गये। जब श्रीगोवर्द्धननाथ जी के दर्शन करे तब तुलसीदास जी नें माथौ नमायो नहीं। तब नंददास जी जान गये जो ये श्रीरामचन्द्र जी विना और दूसरे कूँ नहीं नमें हैं। ×× तब नंददास जी ने गोवर्द्धननाथजी सों बीनती करी सो दोहा।

आज की सोभा कहा कहूँ, भले विराजो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नमें, धनुष बाण लेओ हाथ॥

××× जब गोवर्द्धननाथ जी ने श्री रामचन्द्र जी को रूप धर के तुलसीदास जी कूँ दर्शन दिये, तब तुलसीदास जी ने श्री गोवर्द्धननाथ जी कूँ साष्टांग दंडवत करी।'

उक्त अवतरण '२५२ वैष्णवन की वार्ता' के अंतर्गत नंददास जी की वार्ता से दिया गया है। तार्किक लोग इसे साम्प्रदायिक संकीर्णता का प्रमाण मान सकते हैं। परन्तु हमने इसका उद्धरण वैष्णव-भक्ति के सबसे प्रधान अङ्ग पर प्रकाश डालने के लिए किया है। न केवल वैष्णव-भक्ति, बल्कि किसी भी प्रकार की भक्ति के लिए सबसे पहली

अनिवार्य शर्त यह है कि भक्त का भगवान् के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध हो। जो ईश्वर अनादि, अनन्त, अजन्मा, निरीह, निस्संग, सर्वव्यापक, सर्वेश भर हो, उसका भक्त के लिए कोई उपयोग नहीं। भक्त के भगवान् में उपर्युक्त सभी गुण तो होते ही हैं, परन्तु भक्त जिन गुणों के कारण उसे भजते हैं, वे दूसरे ही हैं।

सूरदासजी कहते हैं—

अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगे मीठे फल को रस अंतरगत हीं भावै।
परम स्वाद सबही जु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन बानी कौं अगम अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातें सूर सगुन पद गावै।

भक्त का भगवान् सर्वशक्तिशाली है, अजन्मा होते हुए भी वह जन्म ले सकता है, निस्संग होते हुए भी वह प्रेम कर सकता है, सर्वव्यापक होते हुए भी वह भक्त के लिए एकदेशीय बनकर लीला कर सकता है; भक्त के हित में वह क्या नहीं कर सकता? ऐसा होने के कारण ही भक्त भगवान् के अधिक से अधिक निकट पहुँचने के लिए उद्योग करता रहता है। प्रेम के अतिरिक्त और दूसरा कौन-सा नाता हो सकता है, जिससे भगवान् के साथ व्यक्तिगत संबंध स्थापित किया जा सके। भक्तों ने भगवान् के साथ प्रेम के तरह-तरह के नाते माने हैं। भक्त चाहे निर्गुण के माननेवाले हों, चाहे सगुण के; व्यक्तिगत प्रेम की भावना सब में समान रूप से पाई जाती है।

कबीर कहते हैं—

हरि जननी मैं बालक तेरा, काहे न औगुन बगसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहै न तेते।
यह गहि केस करै जो घाता, तऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर एक बुद्धि विचारी, बालक दुखी दुखी महतारी।

यही कबीर एक दूसरी जगह कहते हैं—

सौ बरसों भक्ती करै इक दिन पूजै आन।
सो अपराधी आत्मा परि चौरासी खान॥
कामी तरै क्रोधी तरै, लोभी तरै अनंत।
आन उपासी कृतघ्नी, तरै न गुरू कहंत॥

अनन्य भाव के बिना भक्ति संभव ही नहीं है।

तुलसी और सूर दोनों ने राम और कृष्ण के साथ अन्य अवतारों का भी वर्णन किया है और उनके प्रति भी भक्ति की भावना प्रदर्शित की है; परन्तु तुलसी अपने 'राम' और सूर अपने, 'कृष्ण' को जिस आसन पर बिठाते हैं, उसके बराबर वे किसी को स्थान नहीं दे सकते। भक्ति के लिए एकान्त भाव और एकाग्र चित्त अनिवार्य है। ऐसा तभी हो सकता है जब भक्त किसी एक व्यक्तिगत सत्ता में अपने मन की वृत्तियों को केन्द्रीभूत करे। निराकार, सर्वव्यापक ईश्वर के उपासक भी कम से कम रूपक के द्वारा अपने भगवान् को माता, पिता, गुरु, पति आदि व्यक्तिगत सम्बन्धियों के स्थान पर प्रतिष्ठित करके भक्ति-भावना प्रकट करते हैं।

सूरदासजी ने कहा है—

स्याम बलराम कौं सदा गाऊँ।
स्याम बलराम बिनु दूसरे देव कौं, स्वप्न हूँ माहिँ नहिँ हृदय ल्याऊँ।
यहै जप यहै तप, यहै मम नेम व्रत, यहै मम प्रेम, फल यहै ध्याऊँ॥
यहै मम ध्यान, यहै ज्ञान, सुमिरन यहै, सूर प्रभु देहु हौं यहै पाऊँ।

और भी—

जौ हम भले बुरे तौ तेरे।
तुम्हैं हमारी लाज बड़ाई, बिनती सुनि प्रभु मेरे।
सब तजि तुम सरनागत आयौ, दृढ़ करि चरन गहे रे।
तुम प्रताप बल बरत न काहू निडर भये घर चेरे।
और देव सब रङ्क भिखारी त्यागे बहुत अनेरे।
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा तैं पाये सुख जु घनेरे॥

इन दोनों पदों में व्यक्तिगत भक्ति का अनन्य-भाव पूरे ज़ोर के साथ प्रकट किया गया है। भक्त अपने को भगवान् के अत्यन्त निकट अनुभव करता है। वास्तव में विना इस अनुभव के भक्ति सम्भव ही नहीं है।

तुलसीदास जी भी विनयपत्रिका में राम की अनन्य भक्ति का आदर्श उपस्थित करते हुए कहते हैं—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
सो छाँड़िए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बन्धु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कन्त ब्रज बनितनि, भे सब मंगलकारी॥
नाते नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।

अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥
तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद, एतो मतो हमारो ॥

विनयपत्रिका में इस अनन्य भक्ति के अनेक पद मिलते हैं। सच तो यह है कि तुलसीदासजी राम के अतिरिक्त अन्य किसी को अपना सम्बन्धी मानते ही नहीं हैं। कवितावली में वे कहते हैं—

राम हैं मातु पिता गुरु बन्धु औ संगी सखा सुत स्वामि सनेही।
राम की सौंह, भरोसो है राम को राम रँग्यो रुचि राच्यो न केही।
जीयत राम, मुये पुनि राम सदा रघुनाथहि की गति जेही।
सोई जियै जग में तुलसी न तु डोलत और मुये धरि देही।

यदि उनका किसी से सम्बन्ध है भी तो केवल राम के ही नाते—

सो जननी, सो पिता, सोइ भाइ, सो भामिनि, सो सुत सो हित मेरो।
सोइ सगो सो सखा, सोइ सेवक, सो गुरु सो सुर साहिब चेरो।
सो 'तुलसी' प्रिय प्रान समान, कहाँ लौं बनाइ कहौं बहुतेरो।
जो तजि देह को, गेह को, नेह सनेह सों राम को होइ सबेरो।

'मीरा' का अनन्य भाव तो प्रसिद्ध ही है—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
दूसरो न कोई, साधो, सकल लोक जोई ॥
भाई छोड़्या बन्धु छोड़्या, छोड़्या सगा सोई।
साधुसंग बैठि बैठि लोक-लाज खोई ॥
भगत देखि राजी हुई जगत देखि रोई।
अँसुअन जल सींचि सींचि प्रेम-बेलि बोई ॥

दधि मथ घृत काढ़ि लियो डार दई छोई।
राणा विष को प्याला भेज्यो पीय मगन होई॥
अब तो बात फैलि पड़ी जाणे सब कोई।
मीरां एम लगण लागी—होनी होय सो होई॥

(२) प्रेम और आत्मसमर्पण

कहना न होगा कि भक्ति के इस अनन्य भाव में प्रेम का ही प्राधान्य है— चाहे वह प्रेम स्वामी और सेवक का हो, माता-पिता और पुत्र का हो, मित्र-मित्र का हो, या पति-पत्नी का। इष्टदेव के प्रति प्रेम-प्रदर्शन की भावना में सभी भक्तों ने आत्म-समर्पण को ही चरम आदर्श माना है। मीरा के ऊपर उद्धृत किये हुए पद में आत्मसमर्पण की यह भावना स्पष्ट है।

आत्म-समर्पण का भाव तो मीरा के प्रत्येक पद में है; उसने तो अपने को पूर्ण रूप से अपने 'साँवरे' पर निछावर कर दिया है। कृष्ण के प्रति उसका माधुर्य-भाव है सही, पर उसमें भी दैन्य-पूर्ण आत्म-निवेदन प्रचुर मात्रा में है। तभी तो वह कहती है—

म्हानें चाकर राखो जी,
गिरधारी लाला चाकर राखो जी

और

हरि मेरे जीवन प्रान अधार।
और आसिरो नाहीं तुम बिन तीनूँ लोक मँझार।
आप बिना मोहि कछु न सुहावै निरख्यो सब संसार।
मीरा कहै मैं दास रावरी दीज्यो मती बिसार।

गोस्वामी तुलसीदासजी की 'विनयपत्रिका' तो आत्मसमर्पण का ज्वलंत उदाहरण है ही। कृपालु रामचन्द्र के द्वार पर जाकर वे गिड़गिड़ाते हैं—

द्वार हौं भोर ही को आज।
रटत रिरिहा आरि औरन कौर ही तें काज॥
कलि कराल दुकाल दारुन सब कुभाँति कुसाज।
नीच जन, मन ऊँच, जैसी कोढ़ में की खाज॥
हहरि हिय में सदय बूझ्यो जाइ साधु समाज।
मोहु से कोउ कतहुँ कोउ तिन्ह कर्‌यो कोसलराज।
दीनता दारिद दलै को कृपा-वारिधि बाज।
दानि दसरथ राय के तुम बानइत सिरताज॥
जनम को भूखो भिखारी हौं गरीब निवाज।
पेट भरि तुलसिहिं जेंवाइय भगति-सुधा सुनाज॥

'राम' यदि उन्हें दुत्कार दें, तब भी उन्हें उन्हीं के चरणों से लिपटे रहना है: क्योंकि उनके लिए संसार में और कोई गति ही नहीं है—

जो पै दूसरो कोउ होइ।
तौ हौं बारहि बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ॥
काहि ममता दीन पर को पतितपावन नाम।
पापमूल अजामिलहि केहि दियो अपनो धाम॥
रहे संभु विरंचि सुरपति लोकपाल अनेक।
सोक-सरि बूड़त करीसहिं दई काहु न टेक॥
विपुल भूपति सदसि महँ नर नारि कह्यो 'प्रभु पाहि।'
सकल समरथ रहे काहु न बसन दीन्हों ताहि॥

एक मुख क्यों कहौं करुनासिन्धु के गुन गाथ ?
भगत हित धरि देह काह न कियो कोसलनाथ ॥
आप से कहुँ सौंपिये मोहिं जो पै अतिहि घिनात ।
दास तुलसी और विधि क्यों चरन परिहरि जात ॥

ये ही भाव महात्मा सूरदास ने भी अपने विनय के पदों में बार बार व्यक्त किये हैं; जैसे—

तुम तजि और कौन पै जाउँ ?
काकैं द्वार जाइ सिर नाऊँ, पर हथ कहाँ बिकाउँ !
ऐसो को दाता है समरथ जाके दियें अघाउँ ।
अन्तकाल तुम्हरैं सुमिरन गति अनत कहूँ नहिं दाउँ ॥
रंक सुदामा कियो अजाची, दियौ अभयपद ठाउँ ।
कामधेनु, चिन्तामनि, दीन्हौं कल्पवृच्छ तर छाउँ ॥
भव समुद्र अति देखि भयानक मन मैं अधिक डराउँ ।
कीजै कृपा सुमिरि अपनौ प्रन, सूरदास बलि जाउँ ॥

इसी प्रकार—

मेरी तौ गति-पति तुम, अनतहिं दुख पाऊँ ।
हौं कहाय तेरौ, अब कौन को कहाऊँ ?
कामधेनु छाँड़ि कहा अजा लै दुहाऊँ !
हय गयंद उतरि कहा गर्दभ चढ़ि धाऊँ ! इत्यादि ।

और भी, जैसे—

प्रभु मैं पाछौ लियौ तुम्हारौ ।
तुम तौ दीनदयाल कहावत सकल आपदा टारौ ॥

महा कुबुद्धि कुटिल अपराधी, औगुन भरि लियौ भारौ।
सूर कूर की याही बिनती, लै चरननि मैं डारौ॥

अक्खड़ कबीर भी अपने सतगुरु के आगे विनती करते हुए पाये जाते हैं—

सतगुरु तोहि बिसारि कै, काके सरनै जायँ।
शिव विरंचि मुनि नारदा, हिरदे नाहिं समायँ॥
अन्तरजामी एक तुम, आतम के आधार।
जो तुम छोड़ौ हाथ तैं, कौन उतारै पार॥
साहिब तुमहिं दयाल है तुम लगि मेरी दौर।
जैसे काग जहाज को सूझै और न ठौर॥

सांसारिक विषय-वासनाओं से छुटकारा पाने के लिए कबीर को भी केवल एक ही मार्ग सूझता है—केशव की शरण, राम को आत्मसमर्पण—

कहा करौं कैसे तिरौं, भौ जल अति भारी।
तुम सरणागति केसवा, राखि राखि मुरारी॥

इत्यादि।

और भी—

राम राइ सो गति भई हमारी, मो पैं छूटत नहिं संसारी।
ज्यूँ पंखी उड़ि जाइ अकासां आस रही मन मांहीं॥
छूटी न आस टूट्यो नहीं फंधा, उड़िबौ लागौ कांहीं।
जो सुख करत होत दुख तेई, कहत न कछू बनि आवै।
कुंजर ज्यूँ कसतूरी का मृग आपै आप बँधावै॥
कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी।
हत भैभीत डरौं जमदूतनि, आये सरन तुम्हारी॥

(३) इष्टदेव की अनुकम्पा

उपर्युक्त सभी उद्धरणों में आत्म-समर्पण और आत्मनिवेदन की भावना के साथ ही इष्टदेव के अनुग्रह की याचना और उस अनुग्रह में अनन्य विश्वास पूर्ण रूप से व्यक्त हुआ है। भक्त को अपने करतब में तनिक भी विश्वास नहीं है। यद्यपि प्रत्येक भक्त कवि ने सदाचार और शुद्धाचरण की महत्ता और भक्ति के लिए उसकी आवश्यकता पर ज़ोर दिया है, फिर भी कोरे शुद्धाचरण से कुछ नहीं हो सकता। पुराणों में अगणित कथाएँ भरी पड़ी हैं जिनमें कोरे कर्म का खोखलापन और भक्ति की अनिवार्य आवश्यकता और सर्वोच्च महत्ता प्रदर्शित की गई है। यह भक्ति उस भगवान् के प्रति है जिसके हृदय में करुणा का सागर लहराता है, जो अपने भक्तों के पसीने के साथ अपना ख़ून बहा सकता है। आत्म-समर्पण के बाद भक्त को कुछ करना शेष नहीं रहता। स्वयं भगवान् उसकी ख़बर लेते हैं। भक्तों के लिए भगवान् जितने चिन्तित रहते हैं उतना स्वयं अपने लिए नहीं। आत्म-समर्पण की भावना का सबसे अधिक प्रकाशन पुष्टिमार्गीय वैष्णव-मत में हुआ है और उसी में भगवान् के अनुग्रह को 'पुष्टि' का नाम देकर उसकी अमित शक्ति को सिद्ध किया गया है। लेकिन यह भाव समस्त भक्ति-सम्प्रदायों और काव्यों में परि-व्याप्त है। पुष्टिमार्ग में केवल उसे सिद्धान्त रूप से स्वीकार करके स्पष्टतया व्यक्त किया गया है। कबीर कहते हैं कि उन्हें चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ? उनकी चिन्ता करनेवाला तो स्वयं हरि है—

कबीर क्या मैं चिन्त हूँ मम चिन्तें क्या होय।
मेरी चिन्ता हरि करै, चिन्ता मोहिं न कोय॥

ठीक उसी प्रकार जैसे कछुये के अंडे की रखवाली भगवान् करते हैं—

अंडा पालै काछुई विन थन राखै पोख।
यों करता सबकी करै पालै तीनिउ लोक॥

यद्यपि मीरा अपने प्रेम में इतनी विह्वल है कि उसे इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं कि उसके आत्मसमर्पण का क्या फल होगा। भवसागर से तो वह मुक्त है ही, फिर उसे परलोक की चिन्ता क्यों हो; फिर भी विरह में व्याकुल मीरा जानती अवश्य है कि उसका इष्टदेव कितना महान् है, उसकी कृपा का सागर कितना गम्भीर है—

बड़े घर ताली लागी रे, म्हांरो मन री उणारथ भागी रे।
छीलरिये म्हांरो चित नहीं रे, डावरिये कुण जाव॥
गङ्गा जमना सूँ काम नहीं रे, मैं तो जाइ मिलूँ दरियाव।
हाल्यां मोल्यां सूं काम नहीं रे, सीख नहीं सिरदार॥
कामदारां सूं काम नहीं रे, मैं तो जाब करूं दरबार।
काच कथीर सूं काम नहीं रे, लोहा चढ़े सिर भार॥
सोना रूपा सूं काम नहीं रे, म्हाँ रे हीरा रो बौपार।
भाग हमारो जागियो रे, भयो समंद सूं सीर॥
इम्रत प्याला छांड़ि कै कुण पीवै कड़वो नीर।
पीपा कूं प्रभु परचो दीन्हैं, दिया रे खजाना पूर।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर धणी मिला छै हजूर॥

मीरा जानती है कि उसके गिरधर नागर ने ही ज़हर के प्याले को अमृत कर दिया था।

तुलसीदास जी के दार्शनिक और साम्प्रदायिक विचारों की आलोचना करनेवाले उन्हें अद्वैतवाद या विशिष्टाद्वैतवाद के अन्तर्गत रखने के लिए भारी भारी दलीलें पेश करते हैं। परन्तु वास्तव में मध्यकालीन भक्त भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में बँटे रहते हुए भी भक्ति के उन समस्त सामान्य विचारों को अपनाये हुए थे, जो किसी सम्प्रदाय-विशेष के सिद्धान्तों के एकदम अनुकूल न होते हुए भी भक्ति के लिए अत्यन्त अनिवार्य थे। इसी लिए हम देखते हैं कि तुलसीदासजी ने भगवान् की कृपा—राम की भक्तवत्सलता पर इतना अधिक ज़ोर दिया है कि उनमें और पुष्टिमार्गीय भक्तों में कोई अन्तर ही नहीं जान पड़ता। कृपालु राम की महती कृपा का गुणगान करते हुए वे कहते हैं—

जहाँ हित स्वामि न संग सखा बनिता सुत बन्धु न बापु न मैया।
काम गिरा मन के जन के अपराध सबै छल छाँड़ि छमैया॥
'तुलसी' तेहि काल कृपालु बिना दूजो कौन है दारुन दुःख दमैया।
जहाँ सब संकट दुर्घट सोच तहाँ मेरो साहब राखै रमैया॥

मर्यादा के पोषक, शुद्धाचरण के प्रतिष्ठापक तुलसीदास को अपने कर्मों पर तनिक भी विश्वास नहीं है; केवल उन्हें एक भरोसा है कि उनके प्रभु पतितपावन हैं—

मेरे अघ सारद अनेक जुग गनत पार नहिं पावै।
तुलसीदास पतितपावन प्रभु यह भरोस जिय आवै॥

इष्ट-प्राप्ति के संसार में अनेक साधन हैं, परन्तु हरि-कृपा के बिना सब व्यर्थ हैं—

ग्यान भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं।
तुलसीदास हरि-कृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं॥

भगवान् भक्त के गुणों पर प्रसन्न नहीं होते, उन्हें तो भक्तों के अवगुणों पर ही दया आती है। इसी लिए तुलसीदास जी को गर्व और विश्वास है कि—

तऊ न मेरे अघ अवगुन गनिहैं।
जौ जमराज काज सब परिहरि, इहै ख्याल उर अनिहैं॥
चलिहैं छूटि पुंज पापिन के असमंजस जिय जनिहैं।
देखि खलल अधिकार प्रभू सों, मेरी भूरि भलाई भनिहैं॥
हँसि करिहैं परतीति भक्त की, भक्त-सिरोमनि मनिहैं।
ज्यों त्यों तुलसिदास कोसलपति अपनायेहि पर बनिहैं॥

अगर भगवान् भक्तों के अवगुणों को विचारते तो कितने प्राणी तर सकते थे?—

जौ पै हरि जन के औगुन गहते।
तौ सुरपति कुरुराज बालि सों कत हठि बैर बिसहते॥
जो जप जाग जोग ब्रतबर्जित, केवल प्रेम न चहते।
तौ कत सुर मुनिबर बिहाय ब्रज गोप गेह बसि रहते॥
जो जहँ तहँ प्रन राखि भक्त को भजन प्रभाव न कहते।
तौ कलि कठिन करम मारग जड़ हम केहि भाँति निबहते॥
जो सुत हित लिये नाम अजामिल के अघ अमित न दहते।
तौ जम भट साँसति-हर हमसे वृषभ खोजि खोजि नहते॥
जो जग विदित पतितपावन अति बाँकुर बिरद न बहते।
तौ बहु कल्प कुटिल तुलसी के सपने हुँ सुगति न लहते।

राम की उदारता अप्रतिम है: उनकी भक्तवत्सलता के अनेक उदाहरण हैं—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ज्ञानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी।
जो संपति दससीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो संपदा विभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं।
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करै कृपानिधि तेरो॥

सूरदास तो उस संप्रदाय के अनुयायी ही थे जिसमें भगवान् की अनुकंपा 'पुष्टि' के नाम से विदित है। उसी से तो भक्तों का पोषण होता है। भगवान् भक्तों की उसी प्रकार चिंता करते हैं जिस प्रकार गाय अपने बछड़े की। भगवान् पतित-पावन हैं; उन्हें अधमों और कुकर्मियों की जितनी चिंता है, उतनी सदाचारियों और धार्मिकों की नहीं; इसी लिए तो सूरदास कहते हैं—

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै तुमहीं कै हमहीं, माधौ अपने भरोसे लरिहौं।
हौं तौ पतित सात पीढ़िन कौ पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नच्यौ चाहत हौं तुम्हैं बिरद बिनु करिहौं।
कत अपनी परतीति नसावत मैं पायौ हरि हीरा।
सूर पतित तबहीं उठिहै, प्रभु, जब हँसि दैहौ बीरा॥

सूर के प्रभु अपना विरद अवश्य रखेंगे। भक्तों पर कृपा करना तो उनका स्वभाव ही है—

प्रभु कौ देखौ एक सुभाइ।
अति गंभीर-उदार-उदधि हरि, जान-सिरोमनि राइ।
तिनका सौं अपने जन कौ गुन मानत मेरु समान।
सकुचि गनत अपराध समुद्रहिं बूँद-तुल्य भगवान॥
वदन-प्रसन्न-कमल सनमुख ह्वै देखत हौं हरि जैसैं।
विमुख भये अकृपा न निमिष हूँ फिरि चितयौं तौ तैसैं॥
भक्त-विरह-कातर करुनामय, डोलत पाछैं लागे।
सूरदास ऐसे स्वामी कौं देहिं पीठि सो अभागे॥

सूरदास के विनय के पदों में भगवान् की भक्त-वत्सलता के अनेक उदाहरण देकर उनके अनुग्रह की याचना की गई है। कृष्णभक्ति की आधारशिला यही अनुग्रह है जिस पर गोप-गोपियों के प्रगाढ़ प्रेम का विशाल प्रासाद खड़ा किया गया है।

(४) भक्ति की याचना

मध्यकालीन सभी भक्तों ने भगवान् की अनुकंपा के गुण गाये हैं। सेनापति का 'आपने करम करि हौं ही निबहौंगो तौ हौं ही करतार, करतार तुम काहे के?' उन दिनों के प्रचलित विश्वास का उदाहरण है।

भगवान् की अनुकम्पा पर अवलम्बित आत्मसमर्पण-युक्त भगवान् की अनन्य भक्ति का उद्देश्य क्या है? संप्रदायों के आचार्यों ने परलोक और वैकुंठ के वर्णन देकर अपने अपने सिद्धान्तों के अनुसार सायुज्य, सारूप्य, सान्निध्य आदि मुक्तियों का विवेचन किया है; परन्तु मध्यकालीन भक्ति-साहित्य को देखने से स्पष्ट विदित होता है कि भक्त कवियों ने आत्म-समर्पण की भावना को आचार्यों से कहीं अधिक समझा है। जहाँ

सर्वभावेन आत्म-समर्पण है, वहाँ फल की क्या चिंता ? वैकुंठ के सुख अथवा मुक्ति का आनंद उस भक्त के लिए तुच्छ है जिसे अपने इष्ट देव की भक्ति प्राप्त हो गई है। वास्तव में भक्ति का प्राप्त करना ही भक्त के जीवन का चरम लक्ष्य है। यदि भक्ति प्राप्त हो गई, अर्थात् यदि इष्टदेव ने भक्त को अपनाकर उसके ऊपर अपना वरद हस्त रख दिया, उसे अपने चरणों में स्थान दे दिया तो उसका जीवन सफल है, उसे सब कुछ प्राप्त हो गया। सभी भक्तों ने, चाहे वे किसी भी संप्रदाय के हों, अपने इष्टदेव से यही एक याचना की है। सूरदास जी कहते हैं —

अपनी भक्ति देहु भगवान्।

उद्धव और गोपियों के संवाद में मुक्ति को प्रेम के सामने तुच्छ सिद्ध करके सूरदास ने इसी तथ्य का निरूपण किया है। तुलसीदास जी ने भी सदैव भगवान् की भक्ति की ही याचना की है—

सिव सिव होइ प्रसन्न करु दाया।
करुनामय उदार कीरति बलि जाउँ, हरहु निज माया॥

× × ×

गिरिजा-मन मानस मराल, कासीस मसान-निवासी।
तुलसिदास हरि-चरन-कमल वर देहु भक्ति अविनासी॥

तुलसीदास अगर अपने 'राम' से कोई वरदान चाहते हैं तो केवल भक्ति का—

सकल कामना देत नाम तेरो काम तरु
सुमिरत होत कलिमल-छल-छीनता।

करुनानिधान ! वरदान तुलसी चहत,
सीतापति भक्ति-सुरसरि-नीर-मीनता ।

उनकी केवल इतनी कामना है कि किसी प्रकार प्रभु के चरणों के नीचे पड़े रहें—

नाचत ही निसि दिवस मर्‌यो ।
तब ही ते न भयो हरि ! थिर जब तें जिवनाम धर्‌यो ॥
बहु वासना विविध कंचुकि भूषन लोभादि भर्‌यो ।
चर अरु अचर गगन जल थल में कौन न स्वाँग कर्‌यो ॥

×　　　×　　　×　　　×

थके नयन पद पानि सुमति बल संग सकल बिछुर्‌यो ॥
अब रघुनाथ सरन आयो जन भव-भय विकल डर्‌यो ॥
जेहि गुन तें बस होहु रीझि करि सो मोहिं सब बिसर्‌यो ।
तुलसिदास निज भवन-द्वार प्रभु दीजे रहन पर्‌यो ॥

कृष्णभक्त कवि तो ब्रज की धूल को छोड़कर वैकुंठ भी जाना पसंद नहीं करते। परमानंददास कहते हैं—

कहा करौं वैकुंठहि जाइ ।
जहँ नहिं नंद जहाँ न जसोदा, जहँ नहिं गोपी ग्वाल न गाइ ॥
जहँ नहि जल जमुना कौ निरमल, और नहीं करमन की छाइ ।
परमानँद प्रभु चतुर ग्वालिनी ब्रज-रज तजि मेरी जाइ बलाइ ।

(५) नाम-कीर्तन

यों तो वैष्णव भक्त कवियों ने भक्ति के अनेक साधनों का वर्णन करते हुए नवधा भक्ति पर ज़ोर दिया है, परन्तु हरि-नाम-कीर्तन की

जितनी चर्चा इन मध्यकालीन भक्तों ने की है और उसकी जितनी महत्ता प्रदर्शित की है, उतनी पहले कभी नहीं की गई। नाम-कीर्तन की महत्ता संतमत के साधु भक्तों ने उसी मात्रा में स्वीकार की है जिस मात्रा में वैष्णव कवियों ने। कबीर कहते हैं—

सत्त नाम को सुमिरते, उधरे पतित अनेक।
कह कबीर नहिं छाड़िये सत्त नाम की टेक॥

कबीर ने 'नाम' को राम से भी महान् माना है—

राम राम सब कोइ कहै नाम न चीन्है कोइ।
नाम चीन्ह सतगुरु मिलै, नाम कहावै सोइ॥

'नाम' में जो शक्ति है, वह किसी अन्य साधन में नहीं—

जबहिं नाम हिरदे धरा, भया पाप का नास।
मानौ चिनगी आग की, परी पुरानी घास॥

तुलसीदास जी ने तो स्पष्ट कह दिया है कि 'राम न सकहिं नाम गुण गाईं'। राम-नाम के स्मरण के बिना अन्य समस्त साधन व्यर्थ हैं—

राम नाम को अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गये कछु हाथ नहिं, अंक रहे दस गून।

तुलसीदास ने नाम-स्मरण की सर्वश्रेष्ठता 'मानस' और 'विनयपत्रिका' दोनों में बार-बार दुहराकर सिद्ध की है—

राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे।
घोर-भव नीरनिधि नाम निज नाव रे॥

× × ×

राम नाम छाँड़ि जो भरोसो करै और रे।
तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे॥

सुमिरि सनेह सों तू नाम राम राय को।
संबल निसंबल को सखा असहाय को॥
भाग है अभागे हू को, गुन गुनहीन को।
गाहक गरीब को, दयालु दीन दीन को॥

× × ×

पतित पावन, राम नाम सो न दूसरो।
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो उसरो॥

तुलसी ने राम-नाम के प्रताप को बहुत ऊँचा बताया है—

जोग, न बिराग, जप, जाग, तप, त्याग व्रत,
तीरथ न, धर्म जानौं बेद-विधि किमि है।
'तुलसी' सो पोच न भयो है नहिं ह्वैहै कहूँ,
सोचैं सब याके अघ कैसे प्रभु छमिहै॥
मेरे तो न डरु रघुबीर सुनौ साँची कहौं,
खल अनखैहैं तुम्हैं, सज्जन न गमिहै।
भले सुकृती के सङ्ग मोंहि तुला तौलिए तौ,
नाम के प्रसाद भार मेरी ओर नमिहै॥

जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागि बस,
खाये टूक सबके विदित बात दुनी सो।

मानस बचन काय किये पाप सतिभाय,
राम को कहाय दास दगाबाज पुनी सो ॥
राम नाम को प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप,
तुलसी सो जग मानियत महामुनी सो।
अतिही अभागो अनुरागत न रामपद,
मूढ़ ऐतो बड़ो अचरज देखि सुनी सो ॥

तुलसीदास जी राम-नाम की महिमा गाते हुए 'मानस' में कहते हैं—

ब्रह्म राम तें नाम बड़ बरदायक बरदानि।
रामचरित सत कोटि महँु लिय महेस जिय जानि ॥

सूरदास जी ने भी इसी प्रकार राम-नाम की महत्ता दिखाई है—

जौ तू राम-नाम धन धरतौ।
अब कौ जनम, आगिलौ तेरो, दोऊ जन्म सुधरतौ ॥
जम को त्रास सबै मिट जातौ, भक्त नाम तेरो परतौ।
तंदुल-घिरत समर्पि स्याम कौ सन्त परोसौ करतौ ॥
होतौ नफा साधु की संगति मूल गाँठि नहिं टरतौ।
सूरदास बैकुंठ पैंट में कोउ न फैंट पकरतौ ॥

बूड़तहि ब्रज राखि लीन्हौ नावहिं गिरिवर धरन।
सूर प्रभु कौ सुजस गावत नाम-नौका तरन ॥

तुम्हरौ नाम तजि प्रभु जगदीसर सु तौ कहो मेरे और कहा बल ?
बुधि-विवेक-अनुमान आपनैं, सोधि कह्यौ सब सुकृतनि कौ फल ॥

वेद पुरान सुमृति सन्तन कौं, यह आधार मीन कौं ज्यौं जल।
अष्ट सिद्धि, नव निधि सुर संपति तुम विनु तुसकन कहु न कछु तल ॥
अजामील, गनिका, जु व्याध, नृग, जासौं जलधि तरे ऐसेउ खल।
सोइ प्रसाद सूरहिं अब दीजै, नहीं बहुत तौ अन्त एक पल ॥

मीरा भी कहती हैं—

मेरो मन रामहिं राम रटै रे।
राम-नाम जप लीजे प्राणी, कोटिक पाप कटै रे ॥
जनम-जनम के खत जु पुराने, नामहिं लेत फटै रे।
कनक कटोरे इम्रत भरियो पीवत कौन नटै रे।
मीरा कहे प्रभु हरि अविनासी, तन मन ताहि पटै रे ॥

मीरा से उसके प्रियतम का नाम ही का तो नाता था ; इसी एक नाम के आधार पर उसने प्रेम का विशाल भवन खड़ा किया था ; इसी लिए वह कहती है—

नातो नाम को मोसो सूँ तनक न तोड़्यो जाइ।

राम-नाम की महिमा भागवत आदि पुराणों में भी गाई गई है ; और इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि कलियुग में केवल नाम का आधार शेष रहा है—कलौ केशवकीर्त्तनात्। गोस्वामी जी ने भी इसी भाव का उल्था करके कहा है—'कलियुग केवल नाम अधारा'। नाम-स्मरण का महत्त्व न केवल वैष्णव कवियों में बल्कि सन्त कवियों में भी उसी मात्रा में मौजूद है। कबीर के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में निर्गुण ईश्वर की उपासना करनेवाले सन्तों के लिए तो मूर्त्तिपूजक वैष्णवों से भी अधिक नाम के आधार की आवश्यकता थी। यही कारण है कि सन्त-म

में नाम-माहात्म्य इस मात्रा में मिलता है। सूफ़ी-भक्त भी नाम की महत्ता स्वीकार करते हैं और अल्लाह का नाम लेना भक्ति का अंग मानते हैं। मध्यकालीन भक्ति में नाम के महत्त्व को देखते हुए यह निष्कर्ष अनिवार्य रूप से निकलता है कि नाम-स्मरण भक्ति का एक अनिवार्य और मौलिक अंग है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर भी यह सर्वथा युक्तिसंगत जान पड़ता है कि इष्टदेव के साथ, जिसके स्वरूप का केवल अभ्यास किया जा सकता है, नाम का सम्बन्ध ही एक ऐसा सम्बन्ध है, जिसके आधार पर भक्त अपने को उसके निकट अनुभव कर सकता है।

मध्यकालीन भक्तों की सामान्य प्रवृत्तियों का जो ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है, उसमें भक्ति के भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक दृष्टिकोणों का कोई विचार नहीं रखा गया है। ये प्रवृत्तियाँ लगभग सभी सम्प्रदायों में समान रूप से पाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियाँ भी हैं जिन्हें हम सभी भक्त कवियों में पा सकते हैं, जैसे गुरु-भक्ति, सत्संग, उदारता, सहनशीलता, समदृष्टि, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि की भर्त्सना, शील, सन्तोष, दया, धैर्य, क्षमा आदि की प्रशंसा, माया का प्रभाव और उससे बचने के उपाय, स्त्री की निन्दा, अहिंसा आदि। स्थानाभाव से इन सबके अलग-अलग उदाहरण नहीं दिये जा सकते। फिर भी गुरु-भक्ति और माया की सापेक्ष महत्ता की दृष्टि से कुछ उदाहरण देते हैं।

(६) गुरु-भक्ति

संत-मत में गुरु की महिमा अप्रतिम है। संतों के लिए गुरु ही इष्ट-देव की प्रतिमूर्त्ति है, और अत्यंत निकट और सदैव सहायक रहने के

कारण उसका स्थान भक्त की दृष्टि में इष्टदेव से ऊँचा नहीं तो नीचा भी नहीं है। इसी लिए तो कबीर ने कहा है—

गुरु गोविंद दोनों खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी वा गुरु की जिन गोविंद दिया दिखाय।

भक्त के लिए तो गुरु ही सर्वस्व है, क्योंकि—

सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत किया उपकार।
लोचन अनँत उघारिया, अनँत दिखावनहार॥

सभी संतों ने गुरु की महिमा गाई है; बिना गुरु के संत-मत की निर्गुण भक्ति संभव भी तो नहीं। कबीर कहते हैं—

गुरु साहेब तौ एक हैं, दूजा सब आकार।
आपा मेटै गुरु भजै तब पावै करतार॥

मीरा ने भी, जो अपने प्रियतम कृष्ण से सीधा आत्मनिवेदन करती हैं, और उनके साथ घनिष्ठ संपर्क रखती हैं, गुरु की महिमा को स्वीकार किया है—

मोरी लागी लटक गुरु-चरनन की।
चरन बिना मुझे कछु नहिं भावे,
झूठ माया सब सपनन की॥

म्हाँरा सतगुर वेगा आज्यो जी म्हाँरे सुख री सीर बुवाज्यो जी।
तुम बीछड़ियाँ दुख पाऊँजी मेरा मन माहीं मुरझाऊँ जी।

× × × ×

ऊदिन कबै करोला जी म्हाँरे आँगण पाँव धरोला जी।
अरज करै मीराँ दासी जी गुरु-पद-रज की मैं प्यासी जी।

जिस विरह में मीरा दीवानी है, वह भी तो सतगुरु का ही वरदान है—

 री मेरे पार निकस गया सतगुर मारया तीर।
विरह भाल लगी उर अंतरि व्याकुल भया सरीर।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के आरंभ में गुरु की महिमा का जैसा वर्णन किया है उससे विदित होता है कि गुरु की आवश्यकता न केवल निर्गुण के उपासकों को है, बल्कि सगुण के भक्तों को भी उसकी अनिवार्य आवश्यकता है।

गुरु के चरणों की कृपा के बिना वे राम के गुण भी नहीं गा सकते। गुरु का पद हरि के समान ही तो है—

बन्दौं गुरु पद कञ्ज, कृपासिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम-पुञ्ज, जासु वचन रविकर निकर॥

बन्दउँ गुरुपद-पदुम-परागा, सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।
अमिय-मूरि-मय चूरनु चारू, समन सकल भवरुज परिवारू॥
सुकृत संभु तन विमल विभूती, मञ्जुल मङ्गल मोद प्रसूती।
जन-मन-मंजु मुकुर मल-हरनी, किये तिलकु गुन-गन-बस-करनी॥
गुरु-पद-रज मृदु मञ्जुल अञ्जन, नयन-अमिय दृग-दोष विभंजन।
तेहि कर विमल विवेक विलोचन, बरनउँ राम-चरन भव-मोचन॥

गोस्वामी जी गुरु को अपने इष्टदेव राम से भी श्रेष्ठ मानते हैं—

तुमते अधिक गुरुहिं जिय जानी, सकल भाव सेवहिं सनमानी।

एक दूसरी जगह ये गुरु को शंकर-रूप कहते हैं—

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।

कृष्णभक्त-संप्रदायों में और विशेष कर पुष्टिमार्गीय वैष्णवों में गुरु का स्थान बहुत ऊँचा है। गुरु को कृष्णरूप ही माना जाता है और भक्त उसी को आत्मसमर्पण करता है। फिर भी कृष्णभक्त कवियों ने गुरु-महिमा का उस प्रकार बखान नहीं किया है, जिस प्रकार संतों ने। इस सम्बन्ध में सूरदास जी की 'वार्ता' का एक उद्धरण रोचक होगा—

तब चत्रभुजदास ने कह्यौ जो सूरदास जी ने भगवद जस वर्णन कीयौ परि श्री आचार्य जी महा प्रभून को जस वर्णन ना कियौ। तब यह वचन सुनिके सूरदास जी बोले जो मैं तो सब श्री आचार्य जी महा प्रभून को ही जस वर्णन कीयौ है कछू न्यारौ देखूँ तौ न्यारौ करूँ परि तेरे माथ कहत हौ या भाँति कहिके सूरदास जी ने एक पद कह्यौ। सो पद।

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरौ।
श्रीवल्लभ-नख-चन्द्र-छटा बिनु सब जग माँहि अँधेरौ॥
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निबेरौ।
सूर कहा कहि दुविधि आँधिरौ बिना मोल कौ चेरौ॥

इस उद्धरण से कृष्णभक्त वैष्णवों के मतानुसार गुरु-भक्ति स्पष्ट हो जाती है।

(७) माया

माया का विवेचन करने के लिए यहाँ पर स्थान और समय नहीं है। यद्यपि भक्ति के अंतर्गत प्रच्छन्न बौद्ध शंकराचार्य के मायावाद का स्थान नहीं है, फिर भी उनके मिथ्यावाद का जनता में इतना अधिक प्रचार हो गया था कि समस्त भक्त कवियों ने माया की स्थिति को स्वीकार

किया है और माया के विनाशकारी प्रभाव से बचने के लिए प्रार्थनाएँ और चेतावनियाँ दी हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि 'माया' का तात्पर्य सब कवियों और भक्तों ने एक ही नहीं समझा है। स्वयं एक कवि ने भी सब स्थानों पर माया का तात्पर्य एक नहीं रखा है। कभी माया ब्रह्म की शक्ति (योग-माया) मानी गई है, कभी संसार-रूपी छलना, कभी सांसारिक राग-द्वेष और कामिनी-कांचन के प्रलोभन, और कभी अज्ञान और भ्रम के रूप में प्रदर्शित की गई है। कबीर माया को धन के अर्थ में लेते हैं—

कबीर माया पापिनी, माँगी मिलै न हाथ।
मना उतारी झूठ करि (तब) लागी डोलै साथ॥
कबीर माया बेसवा दोनों की इक जाति।
आवत कौं आदर करै जाति न पूछै बाति॥

अधिक व्यापक अर्थ में भी 'माया' का वर्णन कबीर ने किया है—

कबीर माया मोहिनी, मोहे जान सुजान।
भागे हूँ छूटै नहीं, भरि भरि मारै बान॥
माया दीपक नर पतँग, भ्रमि भ्रमि माहिं परंत।
कोई एक गुरु ज्ञान तें, उबरे साधू संत॥

कबीर ने दो प्रकार की माया का वर्णन किया है—

माया है दुइ भाँति की देखी ठोंक बजाय।
एक मिलावै नाम से, एक नरक लै जाय॥

गोस्वामी जी ने रामचरितमानस और विनयपत्रिका में माया का विस्तृत विवेचन किया है। मानस में दो प्रकार की माया का वर्णन है—

मैं अरु मोर तोर ते माया। जेहि बस कीन्हें देव निकाया।
गो गोचर जहँ लगि मनु जाई। सो सब माया जानेउ भाई॥
तेहि कर भेद सुनउ तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ।
एक रचै जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित, नहिं निज बल ताके॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा।
सो प्रभु-भ्रुव विसाल खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥

विनय-पत्रिका में कहते हैं—

केसव कहि न जाय, का कहिए ?
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए।
सून्य भीति पर चित्र रङ्ग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटै न मरै भीति, दुख पाइय यहि तनु हेरे।
रविकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदन हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं।
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि माने।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचाने॥

विनयपत्रिका में माया को भ्रम के रूप में प्रदर्शित किया गया है, जिसके कारण हमारी दृष्टि से सत्यता ओझल हो जाती है।

सूरदास के संप्रदाय में माया की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है, परन्तु सूरदास के काव्य में अनेक स्थानों पर माया का वर्णन मिलता है। माया की विनाशकारी शक्ति बड़ी व्यापक है—

हरि, तुव माया को न बिगोयौ !
सौ जोजन मरजाद सिंधु की पल मैं राम बिलोयौ।

नारद मगन भये माया मैं, ज्ञान बुद्धि वल खोयौ।
साठि पुत्र अरु द्वादस कन्या कंठ लगाये जोयौ।
संकर कौ मन हर्‌यौ कामिनी सेज छाँड़ि भू सोयौ।
चारु मोहिनी आइ आँध कियौ तब नखसिख तैं रोयौ।
सौ भैया दुरजोधन राजा पल मैं गरद समोयौ।
सूरदास कंचन अरु काँचहिं एकहिं धगा पिरोयौ॥

सांसारिक प्रलोभनों को भी सूरदास ने माया कहा है—

हरि तेरौ भजन कियौ न जाइ।
कहा करौं तेरी प्रबल माया देति मन भरमाइ।
जबै आवौं साधु-संगति कछुक मन ठहराइ।
ज्यों गयंद अन्हाइ सरिता बहुरि बहै सुभाइ।
वेष धरि धरि हर्‌यो परधन साधु साधु कहाइ।
जैसैं नटवा लोभ कारन करत स्वाँग बनाइ।
करौं जतन न भजौं तुमकौ, कछुक मन उपजाइ।
सूर प्रभु की सबल माया देति मोहि भुलाइ॥

इन समस्त संत और भक्त कवियों ने माया के ही अन्तर्गत स्त्री के भी विनाशकारी प्रभाव को गिना है। स्त्री साधक को साधना-मार्ग से विरत करने में एक प्रबल कारण है; यही कारण है कि सभी भक्त कवियों ने स्त्री की जी खोलकर निंदा की है। स्त्री की निंदा स्त्री-जाति की निंदा नहीं है; परन्तु उस प्रवृत्ति की निन्दा है जो मनुष्य को आध्यात्मिक लोक से नीचे ढकेलकर घोर पार्थिव और एक विचार से नारकीय पथ पर ले जाती है। मनुष्य की शरीरी भावना, उसकी ऐंद्रियिकता ही स्त्री रूप

में आकर संतों के क्रोध का कारण बनी है। यह विचार सन्तों के लिए नवीन और मौलिक न समझना चाहिए। भागवत आदि पुराणों में भी ठीक उसी मात्रा में और उसी तीव्रता के साथ स्त्री की निंदा की गई है।

यहाँ तक समस्त भक्ति-साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों का संक्षेप से विवेचन किया गया है। वैष्णव काव्य में इन प्रवृत्तियों का प्राचुर्य और प्राधान्य है सही, पर वे सर्वथा उसी में केन्द्रित नहीं हैं, बल्कि समस्त भक्ति-साहित्य में थोड़ी-बहुत मात्रा में पाई जाती हैं। यहाँ तक कि सूफ़ी भक्त कवियों की रचनाओं से भी इनमें से अधिकांश प्रवृत्तियों के उदाहरण दिये जा सकते हैं। इससे प्रकट होता है कि वैष्णव कवियों के विचार और विश्वास संकुचित और संकीर्ण नहीं थे। बल्कि, अगर देखा जाय तो भक्ति-साहित्य की उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ ईसाइयत में भी मिलेंगी। वैष्णव-धर्म और वैष्णव-साहित्य में सार्वभौम सिद्धान्तों और विश्वासों का समावेश है। वैष्णव-धर्म, वास्तव में युग-धर्म था और वैष्णव-साहित्य उस युग का प्रतिबिंब।

मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलनों की धाराओं में सन्त-मत और वैष्णव-मत का ही विशेष प्राबल्य था; क्योंकि सूफ़ी मत का हिन्दुओं में कुछ भी प्रचार नहीं हो सका था। सन्त-मत और वैष्णव मत में कितनी समानता है, यह ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। सन्त-मत के आदि-प्रवर्तक वास्तव में कबीर ही थे; अतः हमने कबीर को ही प्रतिनिधि मानकर उनके उदाहरण दिये हैं। सच तो यह है कि सन्त-मत भी वास्तव में वैष्णव भक्ति का एक अङ्गमात्र था, जिससे वैष्णव

मत को उन बातों का बहिष्कार कर दिया गया था, जो हिन्दू-मुस्लिम-संपर्क से उत्पन्न हुई नवीन परिस्थितियों में न केवल मुसलमानों को, बल्कि उन हिन्दुओं को भी नापसंद थीं, जो मुसलमानों से प्रभावित थे और उनके साथ मिल-जुलकर रहना चाहते थे। ऐसे लोग बहुत थोड़े थे; अतः सन्त-मत का प्रचार उतना नहीं हो सका, जितना वैष्णव भक्ति का। दूसरे, सन्त-मत के प्रचारक समाज की निम्न श्रेणी के व्यक्ति थे, जिनका शिक्षा-दीक्षा और पांडित्य से कोई विशेष संपर्क नहीं था। इसलिए सन्त-मत समाज के उच्च वर्ग में अपना कोई स्थायी प्रभाव न जमा सका। उच्च अर्थात् सवर्ण वर्गमें शुद्ध वैष्णव भक्ति का ही बोलबाला रहा। सवर्णों ने सन्त-साधुओं की उस खरी आलोचना की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, जो उनकी सामाजिक व्यवस्था को हिला देने तथा उनके धार्मिक विश्वासों में क्रांति मचा देने की चुनौती दे रही थी। वैष्णव साहित्य की उन सामान्य प्रवृत्तियों को जान लेने के बाद, जिन्हें सुधारवादी, निर्गुण की रट लगानेवाले सन्तों ने भी स्वीकार न कर लिया था, उन प्रवृत्तियों का भी विश्लेषण कर लेना आवश्यक है, जो शुद्ध वैष्णव-साहित्य को सामान्य भक्ति-साहित्य से अलग करती हैं।

आ—शुद्ध वैष्णव-साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

(१) सगुण-भक्ति—रूप की महत्ता

सन्त-मत और वैष्णव-मत को एक दूसरे से भिन्न करनेवाली सबसे पहली बात है निर्गुण और सगुण-रूप की उपासना। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर नाम और रूप केवल उपाधि-मात्र और मिथ्या हैं; परन्तु

भक्ति के लिए उनमें सत्य के अध्यास की आवश्यकता है। बिना किसी मूर्त्त आधार के भावों का अनुभव और ग्रहण नहीं किया जा सकता। मूर्त्ति-पूजा और अवतार का विरोध करनेवाले सन्त-मत में, जैसा कि हम देख चुके हैं, नाम के आधार को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है; क्योंकि अरूप अनाम निर्गुण ब्रह्म तात्त्विक चिन्तकों के मनन का विषय भले ही हो जाय, हृदय की भावनाओं का विषय नहीं हो सकता। स्वयं सन्त-मत के साहित्य का परिशीलन करने से स्पष्ट विदित हो जायगा कि नाम के साथ ही रूप की कल्पना भी अनिवार्य है। वास्तव में नाम और रूप अन्योन्य रूप से एक दूसरे पर आश्रित हैं। कबीर तथा परवर्त्ती सन्तों की बानियों में गुरु की महत्ता इसी लिए इतनी अधिक है। गुरु को ही सन्त-भक्त अपने इष्टदेव का प्रतिनिधि मानते हैं। गुरुसेवा, गुरुभक्ति को सन्तों ने साधना-पथ में सर्वोच्च स्थान दिया है। ऊपर दिखाया गया है कि गुरु को सन्तजन गोविन्द से भी बड़ा समझते हैं। इस प्रकार देखने से सन्त भक्तों को निर्गुण भक्ति नाम भर को निर्गुण और निराकार की भक्ति रह जाती है। नाम और रूप दोनों की स्वीकृति सन्तों में भी उसी प्रकार मौजूद है, जिस प्रकार शुद्ध वैष्णवों में। सच तो यह है कि भक्ति और निराकार, अनाम ब्रह्म एक दूसरे के विरोधी भावों की व्यंजना करते हैं। सूफ़ी मत में भी गुरु की महिमा और नाम-स्मरण का बोल-बाला है। इस्लाम और ईसाइयत भी भक्तिप्रधान मत हैं और निर्गुण, निराकार ब्रह्म के प्रचारक हैं; परन्तु इन दोनों मतों में ब्रह्म की निराकारता पैगम्बरों के रूप में साकार होकर भक्तों के भावों का आश्रय बनती है। वैष्णव-मत में भक्ति की इसी अनिवार्य आवश्यकता को व्यावहारिक रूप

में स्पष्ट रूप से स्वीकार करके भगवान् के लीलावतारों और विग्रह-रूप (मूर्त्ति) की कल्पना की गई है। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए भगवान् मूर्त्त रूप धारण करके उनके संकटों का निवारण करते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, जो ब्रह्म अज, अद्वैत, निर्विकार आदि है, वही भक्तों के लिए नररूप धारण करता है। सूरदास सगुण भक्ति की आवश्यकता बताते हुए कहते हैं—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगै मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही भावै॥
परम स्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी कौं अगम-अगोचर सो जानै जो पावै॥
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालम्ब कित धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै॥

तुलसीदासजी ने भी यद्यपि ज्ञानपरक निर्गुण ब्रह्म-उपासना का एक-दम प्रत्याख्यान नहीं किया है, फिर भी उन्होंने ज्ञान के पंथ को कृपान की धारा के समान दुर्गम और जोखिम से पूर्ण बताया है। सगुण की सापेक्ष सरलता का प्रतिपादन उन्होंने भी किया है। सगुण के प्रतिपादन में उन्होंने केवल भक्ति की भावात्मक शैली से सन्तोष न करके तर्कपूर्ण दार्शनिक शैली का भी अवलंबन किया है। उनके मत में ब्रह्म के केवल निर्गुण रूप को जानना आंशिक सत्य से परिचित मात्र होना है; क्योंकि—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद?

इस प्रकार का भ्रम अज्ञान-जन्य है। सगुण ब्रह्म को समझना आसान नहीं है। उमा के मोह को शंकर ने कठिनता से दूर कर पाया था। उसी तरह का मोह अनेक नर-नारियों को हुआ करता है। तुलसीदास जी कहते हैं—

निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि-मन भ्रम होइ॥

इसी सगुण रूप को समझाने की चेष्टा भागवत आदि पुराणों में की गई है। हमारे वैष्णव कवियों ने भगवान् के अवतार-रूपों में जो आकर्षण और सम्मोहन भरा है, वह वास्तव में अद्वितीय है। भगवान् के साकार रूप की कल्पना श्रेयस्कर मान लेने के बाद उस रूप को इन भक्त कवियों ने इतना मोहक बना दिया है कि जड़ोन्मुख इन्द्रियाँ बरबस अपने जड़ता-जन्य मोह को चिन्मुख कर देती हैं। सगुण भक्तिमार्ग के प्रचार में वैष्णव कवियों का काव्य अद्वितीय स्थान रखता है। सूर और तुलसी ने कृष्ण और राम के रूप-वर्णन की जो परंपरा भागवत आदि पुराणों से लेकर अत्यन्त जीवित और सञ्जीवन रूप में हिन्दी काव्य में प्रतिष्ठित की, वह शुद्ध धार्मिक साहित्य को अनुप्राणित करती हुई शुद्ध साहित्य की एक ऐसी सम्पत्ति बन गई जिस पर किसी भी साहित्य को गर्व हो सकता है। हिन्दी के वैष्णव कवियों ने अपने अपने भगवान् के रूपों के इतने विशद, विभिन्न और विस्तृत शब्दचित्र खींचे हैं कि यदि उन्हें इकट्ठा किया जाय और उनके सहारे तूलिका से रङ्गीन चित्र खींचे जायँ तो एक विशाल अलबम तैयार किया जा सकता है। यहाँ पर केवल थोड़े से उद्धरण देकर हमें सन्तोष करना पड़ेगा।

सूरदास ने कृष्ण के बाल और यौवन-रूप की प्रत्येक अवस्था के अगणित चित्र उतारे हैं। घुटनों के बल चलते हुए शिशु कृष्ण का बोलता हुआ चल-चित्र है—

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मणिमय कनक नन्द के आँगन मुख प्रतिविम्ब पकरिबेहि धावत॥
कबहुँ निरखि हरि आप छाँह को कर सों पकरन को चित चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ पुनि पुनि तिहिं अवगाहत॥
कनक भूमि पर कर पग छाया यह उपमा एक राजत।
कर कर प्रति पद प्रति मणि वसुधा कमल बैठकी साजत॥
बाल दशा सुख निरखि यशोदा पुनि पुनि नन्द बुलावत।
अन्चरा तर लै ढाकि सूर के प्रभु को जननी दूध पियावत॥

कृष्ण के बाल-वेष में शङ्कर का रूप वर्णन किया गया है-

सखी री नन्द-नन्दन देखु।
धूरि धूसरि जटा जूटलि हरि किये हर भेषु॥
नील पाट पुरोइ मणिगण फणिग धोखे जाइ।
खुनखुना करि हँसत मोहन नचत डौंरु बजाइ॥
जलज माल गोपाल पहिरे कहौं कहा बनाइ।
मुंडमाला मनोहर गर ऐसि शोभा पाइ॥
स्वाति सुत माला विराजत श्याम तन यों भाइ।
मनो गंगा गौरि उर हर लिये कंठ लगाइ॥
केहरी के नखहि निरखत रही नारि विचारि।
बाल शशि मनो भाल ते लै उर धर्यो त्रिपुरारि॥

देखि अङ्ग अनङ्ग डरप्यो नन्द सुत को जान।
सूरदास के हृदय बसि रह्यो श्याम शिव को ध्यान॥

दाँवरी से बँधे हुए भयभीत और विपद्ग्रस्त कृष्ण की रूप-माधुरी का पान करते हुए सूर नहीं अघाते। यद्यपि उनका हृदय क्षुब्ध है, फिर भी सजल नयन, अरुण-मुख कृष्ण की निराली छवि मन में एक अवर्णनीय उल्लास उत्पन्न करती है—

मुख छवि देखि हो नन्दघरनि।
शरद निशि के अंशु अगणित इंदु आभा हरनि॥
ललित श्री गोपाल लोचन लोल आँसू ढरनि।
मनहुँ वारिज विलखि विभ्रम परे परवश परनि॥
कनक मणिमय मकर कुंडल ज्योति जगमग करनि।
मित्र लोचन मनहुँ आये तरल गति दोउ तरनि॥
कुटिल कुंतल मधुप मिलि मनो किये चाहत लरनि।
वदन कांत अनूप शोभा सकै सूर न वरनि॥

यह शब्द-चित्र कितना भाव-व्यञ्जक है! एक और बोलती हुई तस्वीर देखिए—

देखु री नन्द-नन्दन ओर।
त्रास ते तनु त्रसित भोर हरि तकत आनन तोर॥
बार बार डरात तो को बरन बदनहि थोर।
मुकुर मुख दोउ नैन ढारत क्षणहि क्षण छवि छोर॥
सजल चपल कनीन पलकैं अरुण ऐसे डोर।
सरस अंबुज भँवर भीतर भ्रमत है जनु भोर॥

लकुट के उर देखि जैसे भये शोणित बोर।
उर लगाइ बहाइ रिस जिय तजहु प्रकृति कठोर॥
कछुक करुणा करि यशोदा करति निपट निहोर।
सूर श्याम विलोकि यशुमति कहत माखन चोर॥

नाग-दमन लीला का गतिमय चित्र है—

आवत उरग नाथे श्याम।
नन्द यशुदा गोप गोपनि कहत हैं बलराम॥
मोर मुकुट विशाल लोचन श्रवन कुंडल लोल।
कटि पिताम्बर भेष नटवर नृतत फन प्रति डोल॥
देव दिवि दुंदुभि बजावत सुमन गन बरषाइ।
सूर श्याम विलोकि ब्रजजन मात पितु सुख पाइ॥

कन्हैया निर्तत फन प्रति ऐसे।
मनो गिरिवर पर बादर देखत मोर अनंदत जैसे॥
डोलत मुकुट शीश पर कुंडल मंडित गंड।
पीत वसन दामिनि तनु घन पर ता पर सुर कोदंड॥
उरग नारि आगे सब ठाढ़ी मुख मुख अस्तुति गावैं।
सूर श्याम अपराध छमहु अब हम माँग्यो पति पावैं॥

वन से गायें चराकर लौटते हुए कृष्ण की शोभा सूरदास को अत्यन्त विमोहित करती है। इस शोभा का उन्होंने अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार से वर्णन किया है। एक चित्र है—

साँवरो मनमोहन माई।
देख सखी वन ते ब्रज आवत सुन्दर नन्दकुमार कन्हाई।

मोर पंख शिर मुकुट विराजत मुख मुरली सुर सुभग सोहाई ।
कुंडल लोल कपोलन की छवि मधुरी बोलनि बरणि न जाई ॥
लोचन ललित ललाट भ्रकुटि विच ताकि तिलक की रेख बनाई ।
मनो मर्याद उलंघि अधिक बल उमँगि चली अति सुंदरताई ॥
कुंचित केश सुदेश वदन पर मानो मधुप माल घिरि आई ।
मन्द मन्द मुसुकात मनौ घन दामिनि दुरि दुरि देत दिखाई ॥
शोभित सूर निकट नासा के अनुपम अधरनि की अरुनाई ।
जनु शुक सुरँग विलोकि विंबफल चाखन कारन चोंच चलाई ॥

वात्सल्य भाव के आलम्बन बालकृष्ण के चित्र सूरदास ने जिस कौशल और व्युत्पन्नता के साथ अंकित किये हैं, उसका जोड़ मिलना असम्भव-सा है। तुलसीदास ने भी राम-लक्ष्मण के बाल-रूप की छवि वर्णन की है। परन्तु सूर और तुलसी के चित्राङ्कन में सबसे बड़ा अंतर यह है कि जहाँ तुलसी के चित्र अधिकांश में स्थिर और अवाक् हैं, वहाँ सूर के चित्रों में गति और वाणी की सजीवता उन्हें त्रैगुना आकर्षक बना देती है। फिर भी तुलसीदास ने अपने चित्रों को विविध रङ्गों और आभूषणों से सजाकर इतना संपन्न और नयनाभिराम बना दिया है कि आँखें उन पर से हट ही नहीं सकतीं। दशरथ की गोद में शोभित यह बालक किसके नेत्रों को न मोहेगा ?—

पग नूपुर औ, पहुँची कर कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिये ।
नव नील कलेवर पीत झँगा झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिये ॥
अरविंद सो आनन, रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिये ।
मन में न बस्यो अस बालक जौ 'तुलसी' जग में फल कौन जिये ॥

वर दंत की पंगति कुंदकली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जुगै छवि मोतिन माल अमोलन की॥
घुँघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की॥

हिन्दी के अन्य वैष्णव कवियों में बालरूप के वर्णन बहुत कम मिलते हैं। तुलसी ने भी ये वर्णन प्रसंगवश ही किये हैं। बालरूप और बाल-लीला के चित्रण पर तो सूरदास का एकाधिपत्य-सा है। परन्तु सूरदास ने केवल बालरूप के वर्णन में ही अन्य कवियों को मात नहीं किया है, बल्कि उनका युवा-कृष्ण का वर्णन भी अद्वितीय है। इस दिशा में उन्होंने हिन्दी में जिस परम्परा की नींव डाली, वह हिन्दी-साहित्य की स्थायी संपत्ति ही नहीं, वरन् साहित्यकारों की प्रेरणा का स्थायी विषय बन गई है। जिस प्रकार बालवेष वात्सल्य भाव का आलम्बन है, उसी प्रकार युवा-रूप शृंगार का। दो-चार चित्र देखकर हम उनकी भाव-व्यञ्जकता और सम्मोहन-शक्ति का अनुमान लगा सकते हैं--

देखि री देखि आनँद कंद।
चित्त चातक प्रेमघन लोचन चकोरक चंद॥
चलित कुंडल गंड मंडल झलक ललित कपोल।
सुधासर जनु मकर क्रीड़त इन्दु दह दह डोल॥
सुभग कर आनन समीपे मुरलिका एहि भाइ।
मनो ह्वै अंभोज भाजन लेत सुधा भराइ॥
श्यामदेह दुकूल द्युति छवि लसत तुलसी माल।
तड़ित घन संयोग मानो सेनिका शुक जाल॥

अलक अविरल चारु हास विलास भ्रकुटी भङ्ग।
सूर हरि की निरखि शोभा भई मनसा पङ्ग ॥

सूरदास ने श्रीकृष्ण के प्रत्येक अङ्ग का इतना विशद वर्णन किया है, उसकी इतनी निकटता और सूक्ष्मता से परख की है कि देखते ही बनता है। सूरदास के वर्णनों की चित्रोपमता और अलङ्कारप्रियता के सबसे अच्छे उदाहरण कृष्ण और उनके साथ राधा के अङ्ग-वर्णनों में मिल सकते हैं। नेत्रों के वर्णन में अलङ्कारों की बाढ़ देखिए—

देखि री हरि के चञ्चल नैन।
खञ्जन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन ॥
राजिव-दल, इन्दीवर, शतदल, कमल कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहि वै विगसत, ये विगसे दिन-राति ॥
अरुन असित सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाय।
मनो सरस्वति गङ्ग जमुन मिलि आगम कीन्हों आय ॥

रोमराजि का वर्णन देखिए—

रोमावली रेख अति राजत।
सूक्षम शेष धूम की धारा नवघन ऊपर भ्राजत ॥
भृगु पद रेख श्याम उर सजनी कहा कहौं ज्यों छाजत।
मनहु मेघ भीतर शशि की द्युति कोटि काम तनु लाजत ॥
मुक्तामाल नन्दनन्दन उर अर्ध सुधाघट कांति।
तनु श्रीखण्ड मेघ उज्ज्वल अति देखि महाबल भाँ ति ॥
बरही मुकुट इन्द्रधनु मानहु तड़ित दशन छवि लाजत।
यक टक रही विलोकि सूर प्रभु तनु की है कहा हाजत ॥

इसी प्रकार अन्य अङ्गों का वर्णन करके सूरदास कहते हैं—

सखी री सुन्दरता को रङ्ग ।
छिन छिन माँहि परत छवि औरे कमल-नयन के अङ्ग ॥
परिमित करि राख्यो चाहति है तुमहु लागे डोलत सङ्ग ।
चलत निमेष विशेष जानियत भूलि गई मति भंग ॥
श्याम सुभग के ऊपर वारौं आली कोटि अनंग ।
सूरदास कछु कहत न आवै गिरा भई गति पंग ॥

कृष्ण का प्रत्येक अंग—उनका प्रत्येक आभूषण—गोपियों के लिए एक नवीन आकर्षण का विषय है। कोई किसी पर मोहित है, तो कोई किसी पर—

श्याम अंग युवती निरखि भुलानी ।
कोउ निरखति कुंडल की आभा यतनेहि माँझ विकानी ॥
ललित कपोल निरखि कोउ अटकी शिथिल भई ज्यों पानी ।
देह गेह की सुधि नहिं काहू हरषन को पछितानी ॥
कोउ निरखति रही ललित नासिका यह काहू नहिं जानी ।
कोउ निरखति अधरन की सोभा फुरत नहीं मुख बानी ॥
कोउ चकृत भई दशन-चमक पर चकचौंधी अकुलानी ।
कोउ निरखति द्युति चिबुक चारु की सूर तरुनि विततानी ॥

जिस प्रकार सूरदास ने कृष्ण और राधा के प्रत्येक अंग के विशद चित्र खींचे हैं, उसी प्रकार उनकी प्रत्येक अवस्था का भी चित्रोपम वर्णन किया है। सुरतान्त की शोभा का वर्णन है—

सोभा सुभग आनन ओर।
त्रास ते तनु त्रसित तिरछे चितै दंत अकोर ॥
निरखि सन्मुख कियो चाहत वदन विधु की जोर।
तुला विच लोकेश तौले गरुअ आनन गोर ॥
दरशपति रुचि मुदित मनसिज चपल दृग दृगकोर।
कोस क्रीड़त मीन मानों नीर नीरज भोर ॥
श्यामसुन्दर नैन युगवर झलक कज्जल कोर।
सुधारस संकेत मानो कूप दानव वोर ॥
श्रवण मणि ताटंक मंजुल कुटिल कुंतल छोर।
मकर सङ्कट काम वापी अलकि फन्दनि डोर ॥
चिकुर अध नव मोति मंडल तरल लट तृण तोर।
जनु विध्वंसित व्याल बालक अमी की झकझोर ॥
श्रमस्वेद सीकर गण्ड मण्डित रूप अम्बुज कोर।
उमँगि ईषद यो श्रम तज्यो पीयूष कुम्भ हिलोर ॥
हँसत दशननि चमक विद्युत लसित कठिन कठोर।
मुदित मधु पर विन्दुगन मकरन्द मध्य न थोर ॥
निरखि सोभा समर लज्जित इन्दु भयो भ्रम भोर।
सूर धन्य सु नव किसोरी धन्य नन्दकिसोर ॥

तुलसीदासजी के रूप-वर्णनों में भी अलंकार और चित्रोपमता दोनों का आकर्षण है। उनके राम सूरदासजी के कृष्ण की तरह केवल शृंगार के आलम्बन नहीं हैं; उनके राम पौरुष और शक्ति के प्रतीक हैं, फिर भी काम को लजाने और युवतियों को मोहित करने का गुण उनमें भी है—

पद कोमल स्यामल गौर कलेवर राजत कोटि मनोज लजाये।
कर वान सरासन सीस जटा सरसीरुह लोचन सोन सुहाये॥
जिन देखे सखी! सत भायहु तें 'तुलसी' तिन तौ मन फेरि न पाये।
यहि मारग आजु किसोर वधू विधु-बैनी समेत सुभाय सिधाये॥
मुख पंकज कंज विलोचन मंजु, मनोज-सरासन-सी बनी भौंहैं।
कमनीय कलेवर कोमल, स्यामल गौर किसोर, जटा सिर सोहैं॥
तुलसी कटि तून धरे धनुवान, अचानक दीठि परी तिरछौंहैं।
केहि भाँति कहौं सजनी! तोहि सों, मृदु मूरति द्वैनि वसी मन मोहैं॥

परन्तु तुलसीदासजी ने शृंगार के वर्णन में भी मर्यादा और शील का सदैव ध्यान रखा है। रामचरितमानस के वालकाण्ड में शृंगार के आलम्बन रामचन्द्रजी का वर्णन शृंगार का उत्तम उदाहरण होते हुए भी अत्यन्त विशुद्ध है—

सोभा सींव सुभग दोउ वीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा॥
मोर पंख सिर सोहत नीके। गुच्छ वीच विच कुसुम कली के॥
भाल तिलक स्रम विन्दु सुहाये। स्रवन सुभग भूषन छवि छाये॥
विकट भृकुटि कच घूँघरवारे। नव सरोज लोचन रतनारे॥
चारु चिवुक नासिका कपोला। हास-विलास लेत मनु मोला॥
मुख-छवि कहि न जाइ मोहिं पाहीं। जो विलोकि वहु काम लजाहीं॥
उर मनिमाल कंवु कल ग्रीवा। काम कलभ कर भुज वल सींवा॥
सुमन समेत वाम कर दोना। साँवर कुँअर सखी सुठि लोना॥

रूप का ध्यान करना वैष्णव भक्ति-पद्धति का एक विशिष्ट अङ्ग है। तुलसीदासजी 'विनयपत्रिका' में कहते हैं—

मन इतनोई या तनु को परम फल।
सब अँग सुभग बिन्दु माधव छबि तजि स्वभाव अवलोकु एक पल॥
तरुण अरुण अंभोज चरण मृदु नख-द्युति हृदय-तिमिर-हारी।
कुलिश केतु यव जलज रेख वर अङ्कुश मन-गज वशकारी॥
कनक-जटित मणि नूपुर मेखल कटि-तट रटति मधुर बानी।
त्रिवली उदर गँभीर नाभि सर जहँ उपजे विरञ्चि ज्ञानी॥
उर बनमाल पदिक अति शोभित विप्र चरण चित कहँ करषै।
श्याम तामरस दाम बरण वपु पीत वसन शोभा बरषै॥
कर कङ्कण केयूर मनोहर दंत मोद मुद्रिक न्यारी।
गदा कञ्ज दर चारु चक्रधर नाग शुण्ड सम भुज चारी॥
कम्बुग्रीव छबि सीव चिबुक द्विज अधर अरुण उन्नत नासा।
नव राजीव नयन शशि आनन सेवक सुखद विशद हासा॥
रुचिर कपोल श्रवण कुण्डल शिर मुकुट सुतिलक भाल भ्राजै।
ललित भृकुटि सुन्दर चितवनि कच निरखि मधुप अवली लाजै॥
रूप शील गुण खानि दक्ष दिशि सिन्धुसुता रत पद सेवा।
जाकी कृपा कटाक्ष चहत शिव विधि मुनि मनुज दनुज देवा॥
तुलसिदास भव त्रास मिटै तब जब मति एहि स्वरूप अटकै।
नाहिं तो दीन मलीन हीन सुख कोटि जनम भ्रमि भ्रमि भटकै॥

'मीरा' तो कृष्ण के रूप-रस में माती थी ही; उसने अपने प्रेम के गीतों में यत्र तत्र कृष्ण के रूप का वर्णन किया है—

जब से मोहिं नन्दनँदन दृष्टि पड़्यो माई।
तब से परलोक लोक कछु न सोहाई॥

मोहन की चंदकला सीस मुकुट सोहै।
केसर की तिलक भाल तीन लोक मोहै॥
कुण्डल की अलक झलक कपोलन पर छाई।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥
कुटिल भृकुटि तिलक भाल चितवन में टौना।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृग-छौना॥
सुंदर अति नासिक सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु भेस धरे रूप अति विसेखा॥
अधर बिंब अरुण नैन मधुर मंद हाँसी।
दसन दमक दाड़िम दुति चमके चपला सी॥
छुद्रघंटिका किंकिनि अनूप धुनि सोहाई।
गिरिधर के अंग अंग 'मीरा' बलि जाई॥

अन्य वैष्णव कवियों ने भी कृष्ण और राधा के रूप के वर्णन किये हैं—

देखौ माई, सुंदरता की सींवा।
व्रज-नव-तरुनि-कदंब-नागरी निरखि करत अध ग्रीवा॥
जो कोउ कोटि कलप लगि जीवै रसना कोटिक पावै।
तऊ रुचिर वदनारविंद की सोभा कहति न आवै॥
—हितहरिवंश।

देखौ प्यारी, कुञ्ज बिहारी मूरतिवंत बसंत।
मोही तरुनि तरनिजा तन में मनसिज रस बरसंत॥

अरुन अधर नव-पल्लव-सोभा बिहँसन कुसुम-विकास।
फूले विमल कमल से लोचन सूचत मन उल्लास॥
चलि चूरन कुंतल अलि माला मुरली कोकिल-नाद।
देखत गोपीजन वनराई मदन मुदित उनमाद॥
सहज सुवास स्वास मलयानिल लागत परम सुहायो।
श्री राधा माधवी गदाधर प्रभु परसत सचु पायो॥

—गदाधर भट्ट

कल कानन कुंडल मोरपखा, उर पै वनमाल विराजति है।
मुरली कर में अधरा मुसकानि तरङ्ग महाछवि छाजति है॥
रसखानि लखे तन पीत पटा सत दामिनि की दुति लाजति है।
वह बाँसुरी की धुनि कान परे कुलकानि हियो तजि भाजति है॥

—रसखान

नवनीत गुलाव तें कोमल है हटी कञ्ज की मंजुलता इनमें।
गुल लाला गुलाल प्रवाल जपा छवि ऐसी न देखी लला इनमें॥
मुनि-मानस-मंदिर मध्य वसैं बस होत हैं सूधे सुभाइन में।
रहु रे मन, तू चित-चाइन सों, व्रषभानु-कुमारि के पाइन में॥

—हटी

लटकि लटकि मनमोहन आवनि।
भूमि भूमि पग धरत भूमि पर, गति मातंग लजावनि॥
गोखुर-रेनु अंग-अँग मंडित उपमा दृग सकुचावनि।
नव घन पै मनु भीन वदरिया सोभारस वरसावनि॥

विगसनि मुख लौं कान्ति दामिनी दसनावलि दमकावनि।
बीच बीच घनघोर माधुरी मधुरी बेनु बजावनि॥
मुक्तमाल उर लसी छबीली मनु बगपाँति सुहावनि।
बिन्दु गुलाल गुपाल-कपोलनि इन्द्रबधू छवि छावनि॥
रुनन-भुनन, किङ्किन-धुनि मानों हंसनि की चुहचावनि।
बिलुलित अलक धूरि धूसर तन गमन लोट भुव आवनि॥
जँघिया लसनि, कनक कछनी पै पटुका एँचि बँधावनि।
पीताम्बर फहरानि मुकुट छवि नटवर बेस बनावनि॥
हलनि बुलाक अधर तिरछौंही बीरी सुरँग रचावनि।
ललितकिसोरी फूल झरनि या मधुर मधुर बतरावनि॥

—ललितकिसोरी

वैष्णव साहित्य की काव्य-परम्परा पर चलनेवाले रीतिकालीन तथा आधुनिक हिन्दी कवियों ने भी कृष्ण-राधा के रूप को अपने वर्णन का विषय बनाया है—

सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यह बानिक मो मन बसौ सदा बिहारी लाल॥

—बिहारी

पायन नूपुर मञ्जु बजै कटि किङ्किन मैं धुनि की मधुराई।
साँवरे अङ्ग लसै पट पीत हिये हुलसै बनमाल सुहाई॥
माथे किरीट बड़े दृग चञ्चल मन्द हँसी मुखचन्द जुन्हाई।
जै जग-मन्दिर-दीपक सुन्दर श्री ब्रज दूलह देव सहाई॥

—देव

सँभारहु अपने कौं गिरिधारी।
मोर-मुकुट सिर पाग पेंच कसि राखहु अलक सँवारी ॥
हिय हलकति बनमाल उठावहु मुरली धरहु उतारी।
चक्रादिकन सान दै राखौ कङ्कन फँसन निवारी ॥
नूपुर लेहु चढ़ाइ किङ्किनी, खींचहु करहु तयारी।
पियरो पट परिकर कटि कसिकै, बाँधौ हो बनवारी ॥
हम नाहीं उनमैं जिनकों तुम सहजहि दीनों तारी।
बानो जुगवौ नीकैं अबकी हरीचन्द की बारी ॥

—हरिश्चन्द्र

(२) रति की भावना

भगवान् के रूप का आकर्षण उनके प्रति प्रेम उदय होने का कारण है। साहित्य की भाषा में भगवान् कृष्ण और राम रतिभाव के आलंबन हैं। भगवान् के प्रति रति पाँच प्रकार की होती है—(१) शान्ति, (२) प्रीति, (३) प्रेम, (४) अनुकम्पा और (५) कान्ता या मधुरा। इसी क्रम से भक्त भी शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर स्वभाव के होते हैं। इन पाँचों प्रकार की रति का काव्य के शृंगार और शांत रस में समाहार हो जाता है। काव्य के शेष भाव—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, बीभत्स, भयानक इन्हीं के सहायक होकर संचारी भावों के रूप में आते हैं, या अधिक से अधिक उनके आश्रित गौण-रस का स्थान ग्रहण करते हैं।

अ—शान्ति

जैसा कि सगुण रूप की व्याख्या और उदाहरणों से स्पष्ट है, भगवान् का रूप रति भाव का आलम्बन है। इसलिए सगुण रूप के उपासक

भक्त कवियों में शांत-रस अधिक मात्रा में नहीं मिल सकता; क्योंकि शांत रस अधिकतर निर्गुण उपासना के आश्रित रहता है। फिर भी सगुणोपासक भक्तों में, विशेष कर दास्य स्वभाव के रामभक्त कवियों में, शांत-भाव की रति के उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिल सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदास इस प्रकार के भक्त कवियों में अग्रगण्य हैं। तुलसीदासजी की भक्ति की व्यञ्जना का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उनकी 'विनयपत्रिका' है। 'विनयपत्रिका' से शांत रस के अनेक उत्कृष्ण उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

अब लों नसानी अब न नसैहों।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी जागे पुनि न डसैहों॥
पायो नाम रूप चिंतामणि उर कर तें न खसैहों।
श्याम रूप शुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहि कसैहों॥
परवश जानि हँस्यो इन इन्द्रिन्ह निजवश ह्वै न हँसैहों।
मन मधुकर प्रण करि तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहों॥

जो मन भजो चहै हरि सुरतरु।
तौ तजि विषय विकार सार भजु अजहुँ जो मैं कहौं सोई करु॥
सम संतोष विचार विमल अति सत्संगति चारिहु दृढ़ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निशेष करि परिहरु॥
श्रवण कथा मुख नाम हृदय हरि शिर प्रणाम सेवा कर अनुसरु।
नैनन निरखि कृपासमुद्र हरि अग जग रूप भूप सीता वरु॥
यहै भक्ति वैराग्य ज्ञान यह हरि तोषन यह शुभ वृत आचरु।
'तुलसिदास' शिवमत मारग यह चलत सदा सपनेहुँ नाहिंन डरु॥

सूरदास के भी कुछ पदों में शान्त-रस का प्रस्फुटन हुआ है; जैसे—

सबै दिन गये विषय के हेत।
तीनों पन ऐसे ही खोये, केस भये सिर सेत॥
आँखिनि अन्ध, स्रवन नहिं सुनियत, थाके चरन समेत।
गंगाजल तजि पियत कूप-जल हरि तजि पूजत प्रेत॥
मन-बच-क्रम जौ भजै स्याम कौं, चारि पदारथ देत।
ऐसो प्रभू छाँड़ि क्यों भटकै अजहूँ चेति अचेत॥
राम नाम विनु क्यौं छूटौगे, चन्द गहैं ज्यौं केत।
'सूरदास' कछु खरच न लागत, रामनाम मुख लेत॥

हरि विनु मीत नहीं कोउ तेरे।
सुनि मन, कहौं पुकारि तोसौं हौं, भजि गोपालहिं मेरे॥
या संसार विषय-विष-सागर रहत सदा सब घेरे।
सूर श्याम विनु अन्तकाल में कोउ न आवत नेरे॥

सूरदास में वैराग्य की भावना अपेक्षाकृत कम है। उनकी भक्ति वैधी के वजाय रागानुगा अधिक है, जिसमें विधि-निषेध का प्राधान्य न होकर शुद्ध प्रेम का प्राधान्य है। अन्य कृष्ण-भक्त वैष्णव कवियों ने भी शान्ति-परक रति की अपेक्षा शेष अन्य प्रकार की रति-भावना से भक्ति की है। इसके पहले कि हम इन कवियों की रति-भावना का विश्लेषण करें, तुलसीदास की दास्य भाव की प्रीति रति के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना आवश्यक है; क्योंकि वैष्णव कवियों में तुलसीदास का स्थान न केवल इसलिए विशिष्ट है कि वे एक उच्च श्रेणी के कवि और भक्त थे, बल्कि इसलिए भी कि उनकी भक्ति-भावना अन्य वैष्णव-कवियों की अपेक्षा एक भिन्न दृष्टिकोण को लिये हुए थी।

आ—प्रीति

भागवत के अनुसार अधिकांश वैष्णव-भक्त कवियों ने कृष्ण के मधुर और सुकुमार रूप के प्रति सख्य, वात्सल्य या मधुर-भाव-प्रधान भक्ति की व्यञ्जना की है। परन्तु तुलसीदास ने विष्णु के दूसरे अवतार राम की दास्य भक्ति की व्यञ्जना करके भगवान् के ऐश्वर्य और शील-सम्पन्न रूप की प्रतिष्ठा की है। भागवत से अत्यंत अधिक प्रभावित होते हुए भी वे भक्ति के दृष्टिकोण में उससे भिन्न हैं। भक्तों की परम्परा में रामानन्द से तथा सिद्धान्त रूप से रामानुजाचार्य से उनका संबंध जोड़ा जा सकता है। अतः राम-भक्ति का स्वरूप समझने के लिए तुलसीदास जी के, दास्य-भक्ति के दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है।

तुलसीदासजी ने भगवान् के रूप-वर्णन में, जैसा कि पीछे देखा जा चुका है, भगवान् के ऐश्वर्य-रूप पर ही अधिक ज़ोर दिया है। उनके राम सुकुमार होते हुए भी अत्यंत बलशाली और वीर हैं। सूरदास के कृष्ण अत्यंत भयानक, विनाशकारी दुष्टों का दमन करके भक्तों को केवल आश्चर्य-चकित कर सकते हैं; उनके हृदय में दर्प और शूरवीरता की धाक जमाकर उनकी दीनता और दरिद्रता के आश्वासन-आश्रय नहीं बन सकते। भक्त उनके चमत्कार में विश्वास कर सकता है; करुणा में विश्वास कर सकता है; उनकी शक्तिमत्ता से उसका कोई प्रयोजन नहीं। तुलसीदास जी के राम ठीक इसके विपरीत कोटि-काम-छवि को जीतनेवाले हैं अवश्य, पर इसलिए नहीं कि वे सुरति-व्युत्पन्न सहस्रावधि नायिकाओं के नायक हैं, बल्कि इसलिए कि वे विक्रमशाली, दुष्ट-दलन और आपन्नों के शरण्य हैं।

पुष्पवाटिका के प्रसङ्ग में ही, जिसका एक उद्धरण ऊपर दे चुके हैं, राम के इस रूप की स्पष्ट व्यञ्जना शृंगार के वातावरण में भी हुई है—

पीत वसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा॥
तन अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी॥
केहरि कंधर बाहु विसाला। उर अति रुचिर नागमनि माला॥
सुभग सोन सरसीरुह लोचन। वदन मयंक तापत्रय मोचन॥
कानन्हि कनकफूल छवि देहीं। चितवत चितहि चोरि जनु लेहीं॥
चितवनि चारु भृकुटि वर बाँकी। तिलक रेख सोभा जनु चाँकी॥

इस रूप को देखकर मिथिला नगर की स्त्रियाँ परस्पर कहती हैं—

कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी॥

परन्तु यह रूप सुकुमारता के कारण मोहक नहीं है, वल्कि—

ये दोऊ दसरथ के ढोटा। वाल मरालन्हि के कल जोटा।
मुनि कौसिक मख के रखवारे, जिन्ह रन-अजिर निसाचर मारे॥

× × × ×

विप्रकाजु करि वन्धु दोउ मग मुनि-वधू उधारि।
आये देखन चाप-मख, सुनि हरषीं सब नारि॥

भगवान् की शक्ति की व्यञ्जना निम्न चौपाइयों में विशद रूप से हुई है—

जाके वल विरञ्चि हरि ईसा। पालत, सृजत, हरत दससीसा॥
जा वल सीस धरत सहसानन। अण्डकोस समेत गिरि कानन॥
धरै जु विविध देह सुर-त्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावन दाता॥
हर कोदण्ड कठिन जेहि भञ्जा। तोहि समेत नृपदल मद गञ्जा॥
खर-दूषन त्रिसरा अरु वाली। वधे सकल अतुलित वलसाली॥

जाके बल लव लेस तें, जितेउ चराचर झारि।
तासु दूत हौं जाहि की, हरि आनेसि प्रिय नारि॥

भगवान् के इस रूप में विश्वास करनेवाला भक्त उनके सामने अपनी दीनता ही दिखा सकता है, उनके साथ उसका सम्बन्ध स्वामी और सेवक का ही हो सकता है। इसी लिए तुलसीदासजी कहते हैं—

सेवक-सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।

तुलसीदासजी की 'विनयपत्रिका' में दैन्य-भाव का जैसा प्रस्फुटन हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। राम के प्रति तुलसीदास की प्रीति के दृष्टिकोण को समझने के लिए सम्पूर्ण ग्रन्थ पर सम्यक् विचार करना आवश्यक है। तुलसीदास के राम इतने ऐश्वर्यसम्पन्न और श्रेष्ठ हैं कि उनके उच्च दरबार में तुलसीदास अपनी अर्ज़ी भी सीधी नहीं भेज सकते। राम का स्तवन करने के पहले उन्हें गणेश, सरस्वती, शिव, पार्वती, सूर्य आदि की वन्दना कर लेना आवश्यक जान पड़ा; क्योंकि डर था कि कहीं उस महा गौरवशाली व्यक्तित्व के सम्मुख कोई ग़लती न हो जाय। भगवान् के पार्श्ववर्त्ती लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता, हनुमान् आदि को भी मनाना अत्यन्त आवश्यक था, जिससे कि वे दीन-मलीन नगण्य सेवक की सिफ़ारिश कर सकें। सीताजी के सामने नतमस्तक होकर तुलसी कहते हैं—

कबहुँक अम्ब अवसर पाय।
मेरियो सुधि द्यायबी कछु करुन-कथा चलाय॥
दीन सब अँगहीन छीण मलीन अघी अघाय।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु दासी दास कहाय॥

बूझिहैं सोई कौन कहिबो नाम दशा जनाय।
सुनत राम कृपाल के मेरी बिगरिश्रउ बनि जाय॥
जानकी जग जननि जन की किये वचन सहाय।
तरे 'तुलसीदास' भव तव नाथ गुण गण गाय॥

इसी प्रकार हनुमान्, शत्रुघ्न, भरत और लक्ष्मण से प्रार्थना करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं—

पवन-सुत रिपुदवन भरत लाल लषण दीन की।
निज निज अवसर सुधि किये बलि जाऊँ
दास आस पुजिहै खास खीन की।
राज द्वार भली सब कहैं साधु समीचीन की।
सुकृत सुयश साहिब कृपा स्वारथ
परमारथ गति भये गति-विहीन की।
समय सँभारि सुधारिबी तुलसी मलीन की।
प्रीति रीति समुझायबी नत पाल कृपालुहिं परमिति पराधीन की॥

इतने लम्बे क्रम के बाद जब तुलसी की 'विनय-पत्रिका' राम के दरबार में किसी प्रकार पहुँच सकी; और जब सारी सभा ने उसकी ताईद कर दी, तब राजा राम ने भी गौरव की मुस्कराहट के साथ उस पर 'सही' कर दी। दास्य भाव की भक्ति में दैन्य की प्रधानता रहती है। 'विनयपत्रिका' में तुलसीदास जी का दैन्य जिस गहराई के साथ प्रकट हुआ है, उसकी मिसाल मिलना असम्भव-सा है। दैन्य का भाव अन्य वैष्णव कवियों में भी यत्र-तत्र मिल जाता है, पर कृष्ण-भक्त कवियों में उसे अपवाद-स्वरूप

ही समझना चाहिए। सूरदास जी के विनय के पदों में दैन्य भावना की प्रधानता अवश्य है; जैसे—

हरि हौं सब पतितन कौ नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी और नहीं कोउ लायक॥
जो तुम अजामेल कौं दीन्हौ, सो पाटौ लिखि पाऊँ।
तौ बिस्वास होइ मन मेरें, औरौ पतित बुलाऊँ॥
बचन बाँह लै चलौं गाँठि दै, पाऊँ सुख अति भारी।
यह मारग चौगुनो चलाऊँ तौ पूरौ ब्योपारी॥
यह सुनि जहाँ तहाँ तैं सिमिटैं आइ होइ इक ठौर।
अब कैं तौ आपुन लै आयौ बेर बहुर की और॥
होड़ाहोड़ी मनहि भावते किये पाप भर पेट।
ते सब पतित पाय तर डारौं यहै हमारी भेट॥
बहुत भरोसौ जानि तुम्हारौ अघ कीन्हे भरि भाँड़ौ।
लीजै बेगि निबेरि तुरत हीं सूर पतित कौ टाँड़ौ॥

प्रभु, मैं सब पतितन कौ टीकौ।
और पतित सब दिवस चारि के, हौं तौ जनमत ही कौ।
बधिक, अजामिल, गनिका तारी और पूतना ही कौं।
मोंहि छाँड़ि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यों जी कौ?
कोउ न समरथ अघ करिबे कौं, खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितन मैं, मोहूँ तैं को नीकौ!

इन्हीं पदों को सुनकर 'श्री आचार्य जी महाप्रभून' (वल्लभाचार्यजी) ने कहा था, 'जो सूर ह्वैकें ऐसो घिघियात काहे को है कछू भगवल्लीला

वर्णन करि।' इसके बाद श्री आचार्य महाप्रभु ने 'नाम' सुनाकर, समर्पण करवा कर, और दशमस्कंध की अनुक्रमणिका कहकर सूरदासजी के सब दोष दूर किये और उन्हें अपने संप्रदाय में दीक्षित किया। इसके परिणाम-स्वरूप सूरदासजी ने भगवल्लीला वर्णन की और विनय और दैन्य-प्रकाशन के स्थान पर वात्सल्य और प्रेम की अभिव्यञ्जना की।

इ—सख्य

कृष्ण-भक्त वैष्णव कवियों ने शांति और प्रीति रति को नहीं अपनाया है। उनकी भक्ति अधिकांश में सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव की है, जिसमें प्रेम, अनुकम्पा और मधुरा रति का प्रस्फुटन हुआ है। सूरदास जी के काव्य में सख्य, वात्सल्य और मधुर तीनों भावों का पूर्ण रूप से प्रकाशन हुआ है। सूरदास जी की भक्ति सख्य-भाव की मानी जाती है। सख्य-भाव की भक्ति में भगवान् के ऐश्वर्य-रूप—उनके गौरव और शक्तिमत्ता—का कोई स्थान नहीं रहता। इसी लिए ऐसे भक्तों में दैन्य भाव का सर्वथा अभाव रहता है। भगवान् के साथ मित्रता के कई तरह के नाते हो सकते हैं। श्रीकृष्ण के व्रजवासी साथियों में कुछ ऐसे थे जो उनसे आयु में बड़े थे, फिर भी सखा-भाव से उन्हें भजते थे; कुछ ऐसे थे जिनके प्रेम में वात्सल्य का मेल था; कुछ श्रीकृष्ण के साथ खेलने-वाले थे और कुछ व्रजबालाओं के साथ भगवान् की प्रेम-लीलाओं में उनका साथ देते थे। निम्न पद में सख्य-भावना की व्यञ्जना है :—

आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननी कौं सांतनु-सुत न कहाऊँ॥
स्यंदन खंडि महारथि खंडौं कपिध्वज सहित गिराऊँ।

पांडव-दल-सन्मुख ह्वै धाऊँ सरिता रुधिर बहाऊँ ॥
इती न करौं सपथ तौ हरि की छत्रिय-गतिहि न पाऊँ।
सूरदास रनभूमि विजय बिनु जियत न पीठि दिखाऊँ ॥

सख्य-भाव के और अधिक उदाहरण सूरदासजी की कविता के विश्लेषण में दिये जायँगे।

ई—अनुकम्पा

सूरदासजी ने अपने काव्य में वात्सल्य-भाव का प्रकाशन भी अत्यन्त उत्कृष्ट और अनुपम ढङ्ग से किया है। श्रीकृष्ण के गुरुजन—नन्द, यशोदा आदि—उनके साथ वात्सल्य-भाव से प्रेम करते थे। नीचे के पद में चारु सञ्चारी-भाव के साथ वात्सल्य भाव का कैसा सुन्दर परिपाक हुआ है—

कन्हैया तू नहिं मोहिं डरात।
षटरस धरे छाँड़ि कत पर घर चोरी करि करि खात ॥
बकति बकति तोसों पचि हारी नेकहु लाज न आई।
ब्रज परजन सिरदार महरि तू ताकी करत नन्हाई ॥
पूत सपूत भयो कुल मेरो अब मैं जानी बात।
सूरश्याम अब लौं तोहिं बकस्यों तेरी जानी घात ॥

यशोदा के अतिरिक्त अन्य ग्वालिनों के द्वारा भी कृष्ण के प्रति वात्सल्य प्रकट किया गया है—

देखो माई या बालक की बात।
बन उपवन सरिता सब मोहे देखत स्यामल गात ॥
मारग चलत अनीत करत हरि हठिकै माखन खात।
पीताम्बर वै शिर ते ओढ़त अञ्चल दै मुसकात ॥

तेरी सौं कहा कहौं यशोदा उरहन देत लजात।
जब हरि आवत तेरे आगे सकुचि तनक है जात॥
कौन कौन गुण कहौं स्याम के नेक न काहु डरात।
सूरस्याम मुख निरखि यशोदा कहति कहा इह बात॥

वात्सल्य रस में भी मधुर शृङ्गार की भाँति विस्तार हो सकते हैं। संयोग और वियोग के भाव और उनकी अनेक अवस्थाएँ वात्सल्य रस में भी होती हैं, यद्यपि साहित्याचार्यों ने उनका कहीं ज़िक्र नहीं किया है। नीचे के पद में यशोदा की वियोग-दशा सञ्चारियों के साथ कैसे मनोहर और चित्रोपम रूप में प्रकट हुई है—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥

कृष्ण के वियोग में यशोदा का हृदय कितना दीन हो गया है—

ऊधो तिहारे पाँइ लागति हौं कहियो श्याम सों इतनी बात।
इतनी दूरि बसत मधु बिसरे अपनी जननी तात॥
जा दिन ते मधुपुरी सिधारे श्याम मनोहर गात।
ता दिन ते मेरे नैन पपीहा दरश प्यास अकुलात॥
जहाँ खेलन को ठौर तुम्हारे नन्द देखि मुरझात।
जो कबहूँ उठि जात खरिक लौं गाइ दुहावन प्रात॥
दुहत देखि औरन के लरिका प्राण निकसि नहिं जात।
सूरदास बहुरो कब देखौं कोमल कर दधि खात॥

कृष्ण के वियोग में नन्द और यशोदा एक दूसरे को कृष्ण के साथ अत्याचार करने का दोष देते हुए अपने हृदय के वात्सल्य की व्यञ्जना करते हैं—

तब तू मारिबोई करति।
रिसनि आगे कहि जो आवति अब लै भाँड़े भरति॥
रोस कै कर दाँवरी लै फिरति घर घर धरति।
कठिन हिय करि तब ज्यों बाँध्यो अब वृथा करि मरति॥
नृपति कंस बुलाइ पठयो बहुत कै जिय डरति।
इह कछू विपरीत मो मन माँझ देखी परति॥
होनहारी होइहै सोइ अब यहाँ कत अरति।
सूर तब किन फेरि राखे पाइ अब केहि परति॥

उ—मधुरा

रति की भावना के उत्तरोत्तर विकास और तीव्रता में मधुरा रति का स्थान अन्तिम और सर्वोच्च समझा जाता है। मधुर भाव से भजन करनेवाले भक्त कृष्ण और गोपियों—विशेष कर राधा के मधुर प्रेम का चिंतन करते हैं, और स्वयं राधा रूप होने की कामना करते हैं। मधुर प्रेम से सम्बन्ध रखनेवाली सूक्ष्म से सूक्ष्म और छोटी से छोटी चेष्टाओं और अवस्थाओं का इन भक्त-कवियों ने अत्यन्त विशद रूप से विस्तार-पूर्वक चित्रण किया है। हिन्दी का कृष्ण-साहित्य, इसी कारण, स्त्री-पुरुष की ऐहिक लीलाओं से इतना अधिक ओत-प्रोत है; और यही कारण है कि कृष्ण-साहित्य शुद्ध धार्मिक साहित्य होते हुए भी शुद्ध लौकिक साहित्य के सभी गुणों से युक्त है। कृष्ण-साहित्य की ऐहिकता और 'धार्मिक पवित्रता' से उसके सर्वथा मुक्त होने के कारण ही हिन्दी की साहित्यिक-चेष्टा और साहित्यिक-चिन्तना का इतना विकास और विस्तार हो सका है। रीतिकालीन साहित्य के नाम से अभिहित होनेवाले काव्य में वैष्णव

साहित्य की सर्वप्रधान प्रवृत्ति—राधा-कृष्ण का प्रेम ही प्रायः एकान्त रूप से विराजमान है। वैष्णव कवियों के ये नायिका-नायक तथा उनकी सखियाँ और सखा हिन्दी साहित्य की परम्परा को निश्चित और सीमित करने में सहायक हुए। यह परम्परा आज तक अपने क्षीण रूप में विद्यमान है और साहित्य को प्रेम के मधुर-भावों से अनुप्राणित करती रहती है। इसी के कारण हिन्दी-साहित्य और धर्म का सम्बन्ध शताब्दियों तक अटूट रहा। अत्यन्त लौकिक होने पर भी राधा और कृष्ण के नाम साहित्य को एक प्रकार की पवित्रता और धार्मिकता से अनुरञ्जित कर देते हैं। भिखारीदास ने शुद्ध साहित्यिक-चेष्टा में अपनी नम्रता और सन्तोष प्रकट करने के लिए कहा ही था—

आगे के सुकवि जौ रीझिहैं तो कविताई,
न तु राधिका कन्हाई के सुमिरन कौ बहानो है।

हिन्दी का कृष्ण-परक वैष्णव-साहित्य प्रेम-क्रीड़ाओं और विलास-लीलाओं के वर्णन से भरा पड़ा है। सूरदासजी ने साहित्य में वर्णन करने योग्य प्रेम से सम्बन्ध रखनेवाली कोई बात नहीं छोड़ी है। संयोग और वियोग शृङ्गार की समस्त अवस्थाओं, नायक-नायिकाओं की समस्त चेष्टाओं और सखियों-दूतियों आदि के विस्तृत विवरण, शृङ्गार रस के भाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव, अलङ्कार, वक्रोक्ति आदि साहित्य के समग्र उपकरणों को हम सूरसागर में पा सकते हैं। हिन्दी का केवल एक ग्रन्थ—सूरसागर हिन्दी-साहित्य के कम से कम तीन चौथाई का प्रतिनिधित्व कर सकता है। सूरदास के समय पर विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि हिन्दी के प्रायः समस्त कवियों और आचार्यों ने सूरदास से प्रेरणा लेकर साहित्य

के भाण्डार को भरा है; परन्तु फिर भी उनकी समता करनेवाला एक भी कवि अद्यावधि उत्पन्न नहीं हुआ। यहाँ पर कृष्ण-साहित्य से श्रृङ्गारीय प्रेम के प्रतिनिधि-स्वरूप उदाहरण देना प्रायः असम्भव है। फिर भी कुछ थोड़े से उदाहरण दे देना समीचीन होगा।

सूरदासजी ने राधा और कृष्ण के प्रेम का चित्रण पूर्ण और सम्यक् रूप से किया है। सूरसागर में राधा और कृष्ण का प्रसङ्ग खण्डकाव्य के रूप में मिलता है, जिसमें प्रेम के उद्भव, विकास, और प्रफुल्ल विलास क्रीड़ाओं का ब्योरेवार विवरण दिया गया है। राधा और कृष्ण की लीला काव्य के दृष्टिकोण से प्रथम श्रेणी का उदाहरण है।

कृष्ण के श्रृङ्गार रस के आलम्बन-रूप का वर्णन करने के बाद सूरदास यमुनातट पर खेलते हुए राधा और कृष्ण के प्रथम मिलन का वर्णन करते हुए कहते हैं—

बूझत श्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी है बेटी देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी॥
काहे को हम ब्रज तन आवति खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति श्रवणनि नँद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी॥
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलो संग मिलि जोरी।
'सूरदास' प्रभु रसिक-सिरोमणि बातन भुरइ राधिका भोरी॥

'भोरी राधिका' को भरमाकर कृष्ण उसे अपने प्रेम-पाश में इस प्रकार बद्ध कर लेते हैं कि कृष्ण के बिना उसका और उसके बिना कृष्ण का व्यक्तित्व अधूरा रह जाता है। सूर ने राधा और कृष्ण के संयोग शृंगार

का चित्रण अत्यंत विस्तार और स्पष्टता से किया है। वैष्णव भक्ति के मधुर रस से अपरिचित आलोचक उस चित्रण को नग्न और अश्लील कह सकते हैं; परन्तु वास्तव में उसके धार्मिक पहलू को सामने रखकर उसके ऊपर इस प्रकार का कोई लांछन नहीं लगाया जा सकता। जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, सूरदास ने राधा-कृष्ण के सुरतांत की रूप-छवि का भी उसी भक्ति-भावना के साथ चित्रण किया है, जिससे उनके बाल-वेष का। वह रूप भी भक्तों के ध्यान का ही विषय है। सूरदासजी कहते हैं—

कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाएँ, सूरदासजी ने राधा और कृष्ण तक ही सीमित नहीं रखी हैं। यद्यपि कृष्ण की रति-क्रीड़ा राधा के साथ जितनी स्पष्टता और गहनता के साथ व्यक्त की गई है, उतनी और गोपियों के साथ नहीं; फिर भी उनकी रास-क्रीड़ा, दानलीला आदि में अन्य गोपियाँ भी समान भाग की अधिकारिणी हैं।

जिस प्रकार सूरदास ने कृष्ण और गोपियों—विशेषकर राधा के संयोग शृङ्गार के प्रत्येक पहलू का काव्यमय चित्रण किया है, उसी प्रकार वियोग शृङ्गार का भी। राधा और अन्य गोपियों की वियोग-लीला सूरदास के काव्य की अप्रतिम निधि है। कृष्ण के वियोग में गोपियों को मधुवन का हरा रहना तक गवारा नहीं है—

मधु वन तुम क्यों रहत हरे?
बिरह वियोग स्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे॥
तुम हो निलज न लज्जा तुमको फिर सिर पुहुप धरे।
ससा सियार अरु बन के पखेरू धृग धृग सबन करे॥
कौन काज ठाढ़े रहे बन में काहे न उकठ परे।

कपट हेतु कियो हरि हमसे हित खोटे होंहि खरे ॥
नैनन ते बिछुरे नँदनंदन चित ते नाहिं टरे ।
सूरदास प्रभु-विरह दवानल नख सिख लौं पसरे ॥

कृष्ण की रति-क्रीड़ा के समय अपने किंचित् मान का स्मरण करके गोपियाँ अपने को धिक्कारती हैं—

नहिं बिसरति वह रति ब्रजनाथ ।
हौं जु रही हठि रूठि मौन धरि सुख ही में खेलत इक साथ ॥
पचि हारे मैं मनायो न मानौं आपुन चरण छुए हरि हाथ ।
तब रिस धरि सोई उत मुख करि झुकि झाँक्यो उपरैना माथ ॥
रह्यो न परै सुप्रेम आतुर अति जानी रजनी जात अकाथ ।
सूरस्याम सौं ठगी महानिसि पढ़ि जु सुनाए प्रात के गाथ ॥

प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक काल और ऋतु गोपियों के लिए एक नवीन व्यथा का कारण होती है। आकाश में उमड़ी हुई श्याम घटाओं को देखकर वे कहती हैं—

किधौं घन गर्जत नहिं उन देसनि ।
किधौं हरि हरषि इन्द्र हठि बरजे कैधौं दादुर खाये सेषनि ॥
किधौं उहि देसन गवन-गम छाँड़े धरनि न बूँद प्रवेसनि ।
चातक मोर कोकिला उहि बन बधिकन बधे बिसेषनि ॥
किधौं उहि देस बाल नहिं झूलति गावति सखिन सुदेसनि ।
'सूरदास' प्रभु पथिक न चलहीं कासों कहौं सँदेसनि ॥

कृष्ण का उद्धव के द्वारा भेजा हुआ संदेश और गोपियों का उपालंभ जो कृष्ण-काव्य में 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध है, सूरदास के शृंगार-

काव्य का शिरोमणि तथा हिन्दी-साहित्य की समृद्धि का एक प्रधान कारण है। वियोग शृंगार के अंतर्गत जितने अधिक संचारी भावों का समावेश सूरदास ने किया है, उतना अन्य किसी कवि ने नहीं कर पाया। कितनी कटु व्यथा के साथ गोपियाँ कहती हैं—

मेरे जिय यहै परेखो आवै।
सरबस लूटि हमारो लीनो राज कूबरी पावै॥
तापर एक सुनी री अजुगत लिखि लिखि योग पठावै।
'सूर' कुटिल कुबिजा के हित को निर्गुण वेद बतावै॥

जैसा कि ऊपर कहा गया है, कृष्णपरक वैष्णव-साहित्य की परम्परा सूरदास के काव्य से ही आरम्भ होती है; अतः परवर्त्ती वैष्णव कवियों ने यत्किंचित् अंतर के साथ उसी परम्परा के अनुसार अपनी भक्ति की अभिव्यञ्जना की है। नंददास ने अपने रासपंचाध्यायी और भँवरगीत में संयोग और वियोग दोनों के अंतर्गत मधुर प्रेम की अभिव्यक्ति की है। रास-क्रीड़ा का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

सकल तियन के मध्य साँवरो प्रिय सोभित अस।
रत्नावलि-मधि नील मनी अदभुत झलकै जस॥
नव मरकत मनि स्याम कनक-मनिगन-ब्रज बाला।
वृंदावन की रीझि मनों पहिराई माला॥
नूपुर, कंकन, किंकिनि करतल मंजुल मुरली।
ताल, मृदंग, उपंग, चंग एकै सु जु-रली॥
मृदुल मधुर टंकार ताल झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की तार भँवर गुंजार रली पुनि॥

तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि करतारनि की।
लटकनि, मटकनि, झलकनि कल कुण्डल हारन की॥
साँवरे पिय के संग नृतति यों ब्रज की बाला।
जनु घनमंडल मंजुल खेलति दामिनि बाला॥
छबिलि तियनि के पाछैं आछें बिलुलित बेनी।
चंचल रूप लतानि संग डोलति अलि सेनी॥
मोहन प्रिय की मुसकनि ढलकनि मोर मुकुट की।
सदा बसौ मन मेरे फरकनि पियरे पट की॥

'भँवरगीत' तो विरह का काव्य है ही; परन्तु सूरदास के 'भँवरगीत' की भाँति उसमें रस का उतना सुन्दर परिपाक नहीं हुआ है। व्यभिचारी भावों की अपेक्षा उसमें तर्कपूर्ण वाद-विवाद की प्रधानता अधिक है। फिर भी यत्र तत्र कोमल भावों का प्रकाशन अवश्य हुआ है—

कैसे होहुँ द्रुमलता बेलि बल्ली बन माहीं।
आवत जात सुभाय परै मोपै परछाहीं॥
सोऊ मेरे बस नहीं जो कछु करौं उपाय।
मोहन होंहि प्रसन्न जो यह बर माँगौं जाय।
—कृपा करि देहु जू॥

कृष्ण के प्रेम में मतवाली मीरा का तो एक-एक पद कृष्ण-प्रेम के रस में सराबोर है। उसे राधा या गोपियों के माध्यम की भी आवश्यकता न थी, क्योंकि वह स्वयं कृष्ण को अपना पति मानकर भक्ति करती थी। यही कारण है कि उसके प्रेम में इतनी तन्मयता तथा उसके काव्य में इतनी रसमत्ता पाई जाती है। मीरा कृष्ण के विरह में दीवानी थी, अतः उसके

काव्य में विप्रलंभ शृङ्गार का ही प्राधान्य है। उदाहरण के लिए कोई एक पद विना विशेष चुनाव के लिया जा सकता है—

मैं गिरधर के रँगराती, सैयाँ मैं० ।
पचरँग चोला पहर सखी मैं झिरमिट खेलन जाती ।
ओहि झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती ॥
जिनका पिया परदेस बसत है लिख लिख भेजें पाती ।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती जाती ॥

हिन्दी के अन्य वैष्णव कवियों की कृतियों से भी कुछ थोड़े से उदाहरण दिये जाते हैं :—

आजु बन नीको रास बनायो ।
पुलिन पवित्र सुभग जमुना-तट मोहन वेनु बजायौ ।
कल कंकन किंकिन नूपुर धुनि, सुनि खग मृग सचु पायौ ।
जुवतिन-मंडल मध्य स्यामघन, सारँग राग जमायौ ॥
ताल मृदङ्ग उपङ्ग मुरज डफ मिलि रस-सिंधु बढ़ायौ ।
विविधि विसद वृषभानु-नंदिनी अंग सुढङ्ग दिखायौ ॥
अभिनय निपुन लटकि-लटि-लोचन भृकुटि अनन्द नचायौ ।
ततथेई ताथेई धरति नवल गति पति ब्रजराज रिझायौ ॥
सकल-उदार नृपति चूड़ामनि सुख वारिद बरषायौ ।
परिरंभन चुम्बन आलिंगन उचित जुवति जन पायौ ॥
बरषत कुसुम मुदित नभ-नायक इन्द्र निसान बजायौ ।
जै श्री हितहरिवंस रसिक राधापति जस वितान जग छायौ ॥

—हितहरिवंश ।

भीजन लागे री दोऊ जन
अँचरा की ओट करत दोऊ जन।
अति उनमत्त रहत निसिवासर
राग के रंग-रँगे दोऊ जन।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा
प्रेम परस्पर करत दोऊ जन॥

—स्वामी हरिदास।

वृन्दावन बैठे मग जोवत बनवारी।
सीतल मन्द-सुगन्ध पवन बहै
बंसीवट जमुना तट निपट निकट चारी।
कुंजन की लता ललित कुसुमनि की सेज्या रचि
बैठे नटनागर नवलालन गिरधारी।
सूरदास मदनमोहन तेरा मग जोवत
चलहु बेगि दरस देहु तूहीं प्रानप्यारी॥

—सूरदास मदनमोहन।

हिंडोरो झूलति हैं पिय प्यारी।
श्री रँग देवी सुदेयी विसाखा झोटा देत ललिता री॥
श्री जमुना बंसीवट के तट सुभग भूमि हरियारी।
तैसेई दादुर मोर करत धुनि सुनि मन हरत महारी॥
घन रजनी दामिन तें डरपि पिय हिय लिपटी सुकुमारी।
जै श्री भट्ट निरखि दंपति छवि देत अपनपौ वारी॥

—श्री भट्ट।

पिय कौं नाचन सिखवति प्यारी।
वृन्दावन में रास रच्यो है सरद इन्दु उँजियारी॥
मान गुमान लकुट लिये ठाढ़ी डरपत कुंज विहारी।
व्यास स्वामिनी की छवि निरखत हँसि हँसि दै करतारी॥

—व्यासजी।

आये मेरे नँद-नन्दन के प्यारे।
माला तिलक मनोहर वानो त्रिभुवन के उजियारे॥
प्रेम समेत वसत मन मोहन नैकहुँ टरत न टारे।
हृदय कमल के मध्य विराजत श्री व्रजराज दुलारे॥
कहा जानौं कौन पुन्य प्रगट भयौ मेरे घर जो पधारे।
परमानँद प्रभु करी निछावरि, वार वार हौं वारे॥

—परमानन्ददास।

कवहुँ देखि हौं इन नैननि।
सुंदर स्याम मनोहर मूरति अंग अंग सुख दैननि॥
वृन्दावन विहार दिन-दिन प्रति गोप वृंद सँग लैननि।
हँसि हँसि हरषि पतौवनि पावन बाँटि बाँटि पय फैननि॥
कुंभनदास, किते दिन वीते किये रेनु सुख-सैननि।
अव गिरिधर विनु निसि अरु बासर मन न रहतु क्यों चैननि॥

—कुंभनदास।

वेनु बजावत, गोधन गावत, ग्वारन के सँग गोमधि आयो।
बाँसुरी में उन मेरोई नाम लै साथिन के मिस टेरि सुनायो॥

ऐ सजनी, सुनि सास के त्रासनि, नंद के पास उसासनि आयो।
कैसी करौं रसखानि, तहीं चित चैन नहीं, चितचोर चुरायो ॥

—रसखानि।

माधुरी की कुञ्ज तामैं मोद की लै सेज रची
तिहि पर राजैं अलबेले सुकुमार री।
रूप तेज मोद के जुगुल तन जगमगैं
हाव भाव चातुरी के भूषन सुढार री।
नेह नीर नैननि की सैननि में रहे भींजि,
कौन रङ्ग बाढ़्यौ जहाँ बोलिबोऊ भार री।
अति ही आसक्त सखी रही मोहि जोहि जोहि
हित ध्रुव प्राननि कौ इहई अहार री॥

—ध्रुवदास।

रसिक रँगीले भली भाँतिन छबीले
अन आनँद रसीले भरे महा सुख सार हैं।
कृपाधन धाम स्याम सुंदर सुजान, मोद—
मूरति सनेही बिना बूझे रिझवार हैं।
चाह आलवाल, और अंबाह के कल्पतरु
कीरति मयंक प्रेम-सागर अपार हैं।
नित हित संगी, मनमोहन त्रिभंगी मेरे
प्राननि-अधार नंदनंदन उदार हैं॥

कहाँ कर तें मुँदरिया डारी।
मैं बलि जाऊँ बताय किसोरी तूं कबतें न निहारी॥

आवत हैं भुज अंसन दीन्हें ऐहो छैल विहारी।
जो देखी तौ कहिए मोतें मुदित होत कत भारी॥
चोरी चपल लगावति मोकों, न्याव करौ तुम प्यारी।
वृन्दावन हित रूप दरस परी लाल फेट जब डारी॥

—हित वृन्दावनदास।

फिरत कहा है बीर बावरी भई सी तोहिं
कौतुक दिखाऊँ चलि परे कुंज-द्वारी के।
निमिष निहारै, डीठि कितहूँ न टारै, मारै
नन्द को कुमार मैन-सैन सुकुमारी के॥
करनि पसार करि दृगन लगावैं हटी
बस पर्‌यौ गरबीली ग्वारि सुकुमारी के।
आई देखि हौं हूँ औ दिखाऊँ तोहिं चलि लाल
चरन पलोटै वृषभानु की कुमारी के॥

—हटी।

देखो री यह नन्द का छोरा बरछी मारे जाता है।
बरछी सी तिरछी चितवन की पैनी छुरी चलाता है॥
हम को घायल देखि बेदरदी मन्द मन्द मुसकाता है।
ललित किसोरी, जखम जिगर पर नौन पुरी बुरकाता है॥

—ललितकिसोरी।

ऊपर कई बार कहा जा चुका है कि हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य वैष्णव-कवियों का ही उत्तराधिकार था। वैष्णव साहित्य के मधुर प्रेम ने ही वे परिस्थितियाँ पैदा कर दीं जिनके कारण हिन्दी-साहित्य की इतनी समृद्धि

हो सकी है। अतः राधा-कृष्ण के प्रेम का चित्रण रीतिकाल की कविता की सबसे प्रधान विशेषता है। भले ही इस प्रेम-चित्रण में भक्ति-भावना का उतना उन्मेष न समझा जाय, जितना भक्तिकालीन साहित्य में पाया जाता है, फिर भी रीतिकालीन कवि धार्मिक भावना से सर्वथा शून्य थे, यह भी नहीं कहा जा सकता। नीचे के थोड़े-से उदाहरणों में भक्ति और शृंगार के मिश्रण की छटा देखी जा सकती है—

तजि तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति कर अनुराग।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग पग होत प्रयाग॥
किती न गोकुल-कुलवधू, काहि न किन सिख दीन।
कौनें तजी न कुलगली, ह्वै मुरली-सुर-लीन॥
या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम रँग, त्यों त्यों उज्जल होय॥

—बिहारी

राधिका कान्ह को ध्यान धरै तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावैं।
त्यों अँसुवा बरसै बरसाने को पाती लिखै, लखि राधे कौं ध्यावैं।
राधे ह्वै जाय घरीक में 'देव' सु-प्रेम की पाती लै छाती लगावैं।
आपुने आपुही में उरझै, सुरझै, उरझै, समुझै समुझावैं॥

—देव

आधुनिक काल के इस परम्परा के कवियों में साहित्यिकता के साथ भक्ति-भावना भी प्रचुर मात्रा में पाई जाती है।

हम चाकर राधा रानी के।
ठाकुर श्री नँदनंदन के वृषभानु लली ठकुरानी के॥

निरभय रहत, बदत नहिं काहू उर नहिं डरत भवानी के।
'हरीचंद' नित रहत दिवाने सूरत अजब निवानी के॥

—हरिश्चन्द्र

छावते कुटीर कहूँ रम्य जमुना के तीर—
गौन रौन-रेती सौं कदापि करते नहीं।
कहै रतनाकर विहाय प्रेम-गाथा गूढ़
स्रौन रसना मैं रस और भरते नहीं।
गोपी ग्वाल बालनि के उमड़त आँसू देखि,
लेखि प्रलयागम हूँ नैंकु डरते नहीं।
होतौ चित चाव जौ न रावरे चितावन कौ
तजि ब्रज गाँव इतै पावँ धरते नहीं॥

—रत्नाकर

सगुणोपासक वैष्णव कवियों की सामान्य विशेषताओं से परिचय पा लेने के बाद हम वैष्णव-साहित्य की राम और कृष्ण-भक्ति की धाराओं और उनके अंतर्गत विभिन्न उपधाराओं की विशेषताओं का विवेचन कर सकते हैं। हिन्दी के वैष्णव कवियों का व्यक्तिगत परिचय भी इन्हीं के साथ करा दिया जायगा।

हिन्दी के वैष्णव कवि

अ—राम-काव्य की धारा

जैसा कि पीछे निर्देश किया जा चुका है, हिन्दी के वैष्णव कवि उपासना-पद्धति के विचार से दो साम्प्रदायिक शाखाओं में विभक्त हो जाते हैं। एक शाखा के भक्त राम के उपासक हैं और दूसरी शाखा के कृष्ण के। काव्य में भी इन्हीं सम्प्रदायों के समानान्तर राम और कृष्ण काव्यों की अलग-अलग धाराएँ हैं। दोनों धाराओं की समानताओं और विशेषताओं का यत्किंचित् परिचय पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। साहित्यिक और साम्प्रदायिक लोकप्रियता के विचार से कृष्ण-काव्य और कृष्ण-भक्ति अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और प्राचीन है। पुराणों में भी कृष्ण-भक्ति का ही माहात्म्य गाया गया है। कृष्णचरित्र को वर्णन करने-वाले पुराणों में विष्णु, भागवत, हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त्त-आदि विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं; और इन सबमें भागवत पुराण कृष्ण-लीला के विवरण और कृष्ण-भक्ति के माहात्म्य के विचार से सर्वोपरि है। रामचरित्र का भागवत में अन्य अवतारों से कुछ ही अधिक विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, वैसे उसका स्थान कृष्णचरित्र की अपेक्षा अन्य अवतारों की भाँति गौण ही है। राम-चरित्र का आदि ग्रन्थ आदि-कवि वाल्मीकि-कृत रामायण है। वाल्मीकि के बाद अन्य अनेक कवियों ने राम के

चरित्र को काव्य का विषय बनाकर अनेक ग्रन्थों की रचना की। परन्तु राम-चरित्र पुराणों का प्रिय विषय न बन सका। तुलसीदास के रामचरितमानस के पहले भक्ति-भाव-समन्वित राम-चरित्र का सम्यक् वर्णन करनेवाले 'अध्यात्मरामायण' को छोड़कर और कोई उल्लेख-योग्य ग्रन्थ नहीं लिखा गया। साम्प्रदायिक भक्ति के प्रचार की दृष्टि से भी राम-भक्ति कदाचित् कृष्ण-भक्ति के समान लोक-प्रिय नहीं बन सकी। कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदायों का होना उसकी लोक-प्रियता का प्रमाण है। साहित्य तथा जनता में राम-भक्ति को लोक-प्रिय बनाने का उद्योग उसी समय किया गया जब कृष्ण-भक्ति का बोलबाला था। गोस्वामी तुलसीदास ने पुराणों का गम्भीर अध्ययन और मनन किया था। उनके 'रामचरितमानस' पर पुराणों की—विशेषकर श्रीमद्भागवत पुराण की गहरी छाप है; परन्तु उन्होंने पुराणों के प्रिय विष्णु के कृष्णावतार को छोड़कर रामावतार को अपनी भक्ति और काव्य के लिए चुना। इससे स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि उन्हें कृष्ण की भक्ति-पद्धति और उपासना-मार्ग से गम्भीर मतभेद था। रामचरितमानस के अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष और दृढ़ हो जाता है; क्योंकि उसमें राम-भक्ति को कृष्ण-भक्ति के समानान्तर रखने का सचेष्ट प्रयत्न स्पष्ट रूप से किया गया जान पड़ता है। इतना होने पर भी राम-काव्य और राम-भक्ति में उतनी विविधता और उतना विस्तार न आ सका। तुलसीदासजी के बाद राम के चरित्र को काव्य-बद्ध करनेवाला कोई प्रसिद्ध कवि नहीं हुआ। काव्य और भक्ति-प्रचार दोनों दृष्टियों से सीमित होने के कारण ही राम-काव्य पर हम पहले विचार करना उचित समझते हैं।

रामानुजाचार्य और रामानन्द

राम-भक्ति की परम्परा पर विचार करके पण्डितजन रामानुजाचार्य के समय तक पहुँचते हैं। यद्यपि रामानुजाचार्य ने राम की उपासना की नींव नहीं डाली; वे विष्णु और लक्ष्मी के उपासक थे, फिर भी भक्ति-पथ में मर्यादा पर ज़ोर देने के कारण तथा दार्शनिक विचारों में राम-भक्त वैष्णवों की उनसे समता होने के कारण, उनकी शिक्षाएँ मर्यादावादी स्मार्त्त वैष्णवों का आदि-स्रोत समझी जाती हैं। भक्ति के प्रचारक जिन आचार्यों का निर्देश किसी पिछले अध्याय में किया गया है, उनमें एक भी ऐसा नहीं था, जिसने राम-भक्ति को अपनाया हो। रामानुजाचार्य की चौथी या पाँचवीं शिष्य-परम्परा में स्वामी रामानन्द हुए। उन्होंने अवश्य रामोपासना का प्रचार किया। रामानन्द के विषय में यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि रामोपासना की प्रेरणा उन्हें कहाँ से मिली। ऐसा जान पड़ता है कि रामोपासना रामानन्द के पहले से ही किसी न किसी रूप में उत्तर भारत में प्रचलित रही होगी; और वाल्मीकीय रामायण के मर्यादापुरुषोत्तम राम उस समय तक धीरे-धीरे अवतार और ब्रह्मपद पर प्रतिष्ठित हो गये होंगे; क्योंकि धर्म-प्राण भारत देश में राम-जैसे आदर्शवादी चरित्र यदि अवतार-पद के अधिकारी न हो जायँ तो आश्चर्य की बात है। अध्यात्मरामायण में राम अवतार और इष्टदेव के रूप में विराजमान हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रामोपासना उन दिनों काफ़ी प्रचलित हो गई होगी। यह हो सकता है कि गोस्वामी तुलसीदासजी के पहले राम-काव्य के राम का चरित्र वैष्णवों की उपासना-पद्धति में मनन और कीर्त्तन का विषय न हो सका हो, परन्तु राम-नाम का

प्रचार बहुत पहले से हो चला होगा। रामानन्द की शिष्य-परम्परा में होनेवाले कबीर आदि सन्त भक्तों ने भी रामनाम का माहात्म्य बहुत गाया है। इस बात का निर्देश पीछे किया जा चुका है। स्वामी रामानन्द ने रामनाम और रामकाव्य के राम के चरित्र में अन्योन्य सम्बन्ध स्थापित किया था, इसका प्रमाण उनके रचे हुए बताये जानेवाले दो-तीन पदों से मिलता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी

गोस्वामी तुलसीदासजी ने राम के चरित्र को वैष्णव उपासना-पद्धति में सम्मिलित करके राम-भक्ति को कृष्ण-भक्ति के समकक्ष रक्खा। राम और कृष्ण दोनों विष्णु के अवतार थे, परन्तु दोनों की उपासना-पद्धति में तात्त्विक भेद है। दोनों में ऊपरी समानता कदाचित् कृष्ण-भक्ति की लोकप्रियता की सूचक है। यदि ऐसा है तो गोस्वामी तुलसीदासजी को हम एक महान् विचारक और लोकनायक के उच्च पद पर प्रतिष्ठित कर सकते हैं, क्योंकि वैष्णव-भक्ति में उन्होंने मर्यादावाद का समावेश करके उसका समस्त स्वरूप ही बदल देने की चेष्टा की थी। उनकी लोकप्रियता उनकी सफलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

तुलसीदासजी ने अपने रामचरितमानस में धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में प्रचलित विभिन्न सिद्धान्तों और विश्वासों का एक समन्वयात्मक रूप उपस्थित करने की चेष्टा की है। 'रामचरितमानस' भारत की युग-युग की चिन्तना का एक सार है। तुलसीदासजी ने स्वयं ग्रन्थ आरम्भ करते हुए कहा है—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥

'अनेक पुराण, वेद, शास्त्र, रामायण तथा अन्य ग्रन्थ तुलसी के 'रामचरितमानस' के निर्माण में सहायक हुए हैं। तुलसीदासजी ने परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों का जो सामंजस्य किया है वह उन्हें एकदम लोकनायकत्व के सर्वोच्च पद का अधिकारी बनाता है, क्योंकि इधर अनेक शताब्दियों से कोई एक व्यक्ति ऐसा नहीं उत्पन्न हुआ, जिसकी कृति ने लोक-जीवन को रामचरितमानस के समान अनुप्राणित और अग्रसर किया हो। यद्यपि पुराणों में और स्वयं भागवत में भी मर्यादा—सदाचार और कर्मकाण्ड का महत्त्व और विस्तार प्रचुर मात्रा में है, परन्तु व्यावहारिक रूप से कृष्ण-भक्ति में तथा आचार्यों-द्वारा प्रचारित भक्ति में भी मर्यादा-मार्ग को सर्वथा गौण माना जाता था। पीछे उद्धृत किये हुए भागवत-माहात्म्य के अवतरण से समाज की जिस अवस्था का परिचय मिलता है, उसमें तुलसीदासजी के समय तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ था; यह 'रामचरितमानस' और कवितावली से स्पष्ट जाना जा सकता है। उत्तर-काण्ड में कलियुग का वर्णन करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं—

बरन धर्म नहिं आस्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नरनारी ॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन ॥
मारग सोइ जा कहँ जो भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा ॥
मिथ्यारम्भ दंभ रत जोई। ताकहुँ संत कहइ सब कोई ॥

× × × ×

नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मर्कट की नाईं॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
सब नर काम लोभ रत क्रोधी। देव विप्र श्रुति संत बिरोधी॥
गुन मंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥
सौभागिनी बिभूषन हीना। बिधवन्ह के सिंगार नवीना॥
गुर सिष बधिर अंध का लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा॥
हरइ सिष्य-धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥
मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं॥

× × × ×

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्हते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर, आँखि देखावहिं डाटि॥

पर त्रिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने॥
तेइ अभेद बादी ज्ञानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर॥
आपु गये अरु तिन्हहू घालहिं। जे कहुँ सत मारग प्रतिपालहिं॥
कल्पकल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥
ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥
बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृपली स्वामी॥
शूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा॥

समाज की इस दयनीय अवस्था को देखकर तुलसीदासजी को निराशा नहीं हुई : बल्कि उन्होंने इस वस्तुस्थिति से उत्पन्न होनेवाली और लोगों की घबराहट को दूर करने के लिए आश्वासन दिया है :—

कलिजुग सम जुग आन नहिं, जौं नर कर विश्वास।
गाइ राम गुन गन विमल, भव तर विनहिं प्रयास॥

× × × ×

कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भवथाहा॥
कलिजुग जोग न जाप न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥
सब भरोस तजि जो भजि रामहिं। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिं॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥
कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा॥

निराशा के अन्धकारपूर्ण वातावरण में हमारे कवि ने समाज का प्रतिबिम्ब उतारकर रख देना अपना कर्त्तव्य नहीं समझा। उसने अन्धकार की घटाओं को हटाकर भानुकुल-भानु के प्रखर-प्रकाश से दिग्दिगन्त को आलोकित कर दिया। तुलसीदासजी ने जनता के सामने राम का दुष्ट-संहारक, प्रजापालक रूप रखकर तथा समाज का उचित दिशा की ओर पथ-प्रदर्शन करके, जीवन को रहने योग्य बनाने का अभूतपूर्व प्रयत्न किया। कृष्ण-भक्ति केवल लोकरञ्जन कर सकती थी; कृष्ण के चरित्र में लोक की रक्षा का भाव उस प्रकार नहीं था, जिस प्रकार राम के चरित्र में। पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि तुलसीदासजी की भक्ति का दृष्टिकोण दास्य भाव का था, अतः उन्होंने राम के ऐश्वर्य और विक्रम का वर्णन विशेष रूप से किया है। कृष्ण की सख्य, वात्सल्य

और मधुर भाव की भक्ति का दृष्टिकोण इससे सर्वथा भिन्न है। तुलसी की भक्ति का दृष्टिकोण न केवल उनकी प्रकृति के अनुकूल था, बल्कि समाज की तत्कालीन परिस्थितियों के भी अनुकूल था। सच तो यह है कि यह समाज की एक महान् आवश्यकता और माँग थी। तुलसीदासजी ने उस माँग की पूर्त्ति जिस ढङ्ग से की वह भारतीय समाज और साहित्य में चिरस्मरणीय रहेगा। रामचरितमानस द्वारा उपस्थित किये आदर्शों को दुहराने की यहाँ पर आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक हिन्दू चाहे वह किसी सम्प्रदाय का क्यों न हो, उनसे भली भाँति परिचित है। यह परिचय केवल 'मानस' के पठन-पाठन से ही नहीं प्राप्त हुआ। पठन-पाठन के दृष्टिकोण से तो 'मानस' अद्वितीय ग्रन्थ है ही; अशिक्षित तथा निरक्षर हिन्दू भी उसका नाम आदर से लेते हैं, उसकी कथा से परिचित हैं, तथा उसकी शिक्षाओं और उसके द्वारा बताये गये आदर्शों के अनुसार अपने जीवन की गति-विधि बनाने का प्रयत्न करते हैं। 'रामचरितमानस' की कथा और उसकी शिक्षाएँ उत्तर भारत के हिन्दू समाज के वातावरण में इतनी अधिक व्याप्त हो गई हैं कि हम अपने दैनिक जीवन में उसके उदाहरणों और वाक्यों को शाही सिक्कों की तरह इस्तेमाल करते हैं। 'रामचरितमानस' झोपड़ी और राजमहल, ज्ञानी और भक्त, अनुरक्त और विरक्त, शिक्षित और अशिक्षित, स्त्री और पुरुष, बालक और वृद्ध—संक्षेप में समाज के प्रत्येक विभाग के भिन्न भिन्न छोरों को जोड़नेवाली शृंखला है।

'रामचरितमानस' इतना लोकप्रिय क्यों हुआ? इस प्रश्न के उत्तर की ओर ऊपर सङ्केत किया जा चुका है। तुलसीदासजी की काव्य-प्रतिभा

उसकी इतनी लोक-प्रियता के लिए काफ़ी नहीं है। उसकी लोक-प्रियता का कारण है उसके द्वारा उपस्थित किया हुआ युग युग से चले आते हुए विभिन्न आदर्शों में सामञ्जस्य। 'रामचरितमानस' भारतीय ईश्वरवाद, भारतीय समाजशास्त्र, स्मार्त विधि-निषेध, आचार-विचार, साम्प्रदायिक सिद्धांत आदि क्षेत्रों में की गई युग युग की चिंता और साधना का समन्वयात्मक प्रतिफल है। 'रामचरितमानस' के द्वारा तुलसीदास का व्यक्तित्व उनके तत्कालीन, भूत और भावी युगों को छूता हुआ नज़र आता है। इसी से कवि और मनीषी तुलसीदास की महत्ता का अन्दाज़ लगाया जा सकता है। तुलसीदास के काव्य में वैष्णव भक्ति साम्प्रदायिक क्षेत्र से निकलकर स्वतंत्र वातावरण में समाज के विभिन्न दलों और स्तरों को मिलाती हुई दिखाई देती है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि तुलसीदास जी साम्प्रदायिकता के दायरे को तोड़कर ऐसा समाज निर्माण करना चाहते थे, जिसमें भिन्न-भिन्न संप्रदाय न हों। उनका उद्देश्य यह था अवश्य, पर उनका दृष्टिकोण विश्व-बन्धुत्व और सुलह-कुल के उदार-प्रचारकों से भिन्न था। असल में तुलसीदास सम्प्रदाय के दायरे को तोड़ने के पक्षपाती नहीं थे, बल्कि उसे अधिक से अधिक विस्तृत करना उनका उद्देश्य था——इतना विस्तृत कि उसकी सीमा के भीतर सारा समाज आ जावे। राम के प्रति भक्ति और श्रद्धा होना उनके दृष्टि-कोण से प्राणिमात्र का परम कर्त्तव्य था। यह एक ऐसा विषय था जिसमें वे किसी से कोई समझौता नहीं कर सकते थे। इसी एक बात को लेकर उनके ऊपर साम्प्रदायिक संकीर्णता और अनुदारता का लाञ्छन लगाया जा सकता है। 'जाके प्रिय न राम बैदेही। तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।' वाला

पद तथा इसी भाव के अन्य अनेक अवतरण उनके ग्रन्थों से प्रमाणरूप उपस्थित किये जा सकते हैं। इस विषय में तुलसीदासजी की स्थिति अयुक्ति-युक्त नहीं है। जब रामभक्ति की महिमा असीम है, जब राम-नाम में साधारण रूप से असंभव की कोटि तक पहुँचनेवाली क्षमता है, तब भी यदि कोई उसे नहीं अपनाता, तो उसके साथ मैत्री का सम्बन्ध किस प्रकार रक्खा जा सकता है? और राम से अमैत्री! तुलसीदासजी के समक्ष यह बात मनुष्य मात्र के लिए अपनी स्थिति का भान रहते हुए असम्भव मालूम होती थी, क्योंकि उनके राम अमर-कथा के चरितनायक-भर नहीं थे; न वे केवल सम्प्रदाय के इष्टदेव मात्र थे, बल्कि उनके 'राम' परब्रह्म ईश्वर थे। उनमें विश्वास न करने का तात्पर्य था अपनी स्थिति में विश्वास न करना—नास्तिक होना। कौसल्या के घर में जन्म लेने के अवसर पर ही राम ने अपने विराट्-रूप का दर्शन कराके इस विषय में किसी प्रकार के सन्देह को न उठने देने का उपक्रम किया है—

देखरावा मातहि निज, अदभुत रूप अखण्ड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

अगनित रवि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन॥
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥
देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी॥
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही॥

यही नहीं, स्थान-स्थान पर तुलसीदासजी ने राम के ब्रह्मरूप का निर्देश और व्याख्या की है, भले ही उनका ऐसा करना आलोचकों की दृष्टि में काव्य के स्वाभाविक रस में व्याघात पहुँचानेवाला हुआ हो। गोस्वामीजी

का असली उद्देश्य राम के प्रति अपनी भक्ति का प्रकाशन तथा उनकी भक्ति को इस रूप में प्रदर्शित करना था कि वह मनुष्य-मात्र को ग्राह्य हो सके।

तुलसी का काव्य

तुलसीदासजी का कवित्व इस विषय में उनका सहायक हुआ। वे प्रकृत्या कवि थे। भक्ति और काव्य का जैसा सुथरा समन्वय 'रामचरित-मानस' में हुआ है, वैसा अन्यत्र नहीं मिल सकता। कृष्ण काव्य में ऐहिकता की पराकाष्ठा होने के कारण वह कालांतर में अपने धार्मिक पद से धीरे-धीरे गिरता गया और अन्त में साहित्यिक आलोचकों की दृष्टि में पूर्ण लौकिक काव्य बन गया; परन्तु तुलसी के राम-काव्य में धार्मिकता और कवित्व इस प्रकार दूध-पानी की तरह मिल गये हैं कि एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। भले ही एक दूसरे को प्रभावित कर ले, पर एक के कारण दूसरे का पराभव नहीं हो सकता। समय के प्रवाह में रामचरित-मानस का कवित्व और धार्मिकता अक्षुण्ण हैं; भक्त और साहित्यप्रेमी दोनों उसे अपनी-अपनी अतुलनीय सम्पत्ति मानते हैं।

चरित-काव्यों में रामचरितमानस अद्वितीय है। अमर-कथा के नायक राम के व्यक्तित्व के उत्तरोत्तर विकास की दृष्टि से 'मानस' अंतिम और सर्वोपरि स्थान का अधिकारी है। वाल्मीकि के राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं; परन्तु हैं मानव ही। वे अतिमानव भी नहीं हैं, क्योंकि ग़लतियाँ वे भी करते हैं और उन ग़लतियों के लिए वाल्मीकि उनकी खरी आलोचना भी करते हैं। परन्तु धीरे-धीरे राम के व्यक्तित्व में विकास हुआ और उनका रूप अवतारी पुरुषों में सम्मान से लिया जाने लगा। 'अध्यात्मरामायण'

के राम विष्णु के अवतार हैं और अलौकिक शक्तिसम्पन्न हैं। परन्तु तुलसीदास ने इस व्यक्तित्व में पूर्णता ला दी। उनके राम पूर्ण-ब्रह्म हैं; और पूर्ण-मानव हैं। उनका ब्रह्मपद सर्वोपरि है; और मानवों में उनका आदर्श सर्वथा अनुकरणीय होते हुए भी अतर्क्य और अगम्य है। 'राम-चरितमानस' के अन्य चरित्र राम के व्यक्तित्व के प्रकाशन में ही सहायक हैं; राम से स्वतन्त्र उनकी कुछ भी सत्ता नहीं है। सच तो यह है कि राम से स्वतन्त्र अन्य किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। 'सीय राम मय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥' के दार्शनिक सत्य को तुलसीदास ने काव्य में भी चरितार्थ करके दिखा दिया है। रामचरित-मानस का समाज राम के व्यक्तित्व का लोक में विस्तार मात्र है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि 'मानस' के अन्य पात्र अधूरे और गौण हैं। उनकी अपूर्णता और अप्रधानता की बात केवल सापेक्ष है; यों सभी पात्र अत्यन्त स्वाभाविक, जीवित और अपने में पूर्ण हैं; सभी अपने-अपने स्थान पर आदर्श रूप हैं और एक बात जो सबको एक शृंखला में बद्ध करती है, राम की भक्ति है। मानस का एक-एक पात्र राम का भक्त है, यहाँ तक कि रावणादि राक्षस भी जो प्रकट रूप में राम के घोर विरोधी और वैरी हैं, परोक्ष रूप से राम के अनन्य भक्त हैं। अन्तर केवल इतना है कि उनकी भक्ति का ढङ्ग अन्य भक्तों से भिन्न है। फल के विचार से उनकी भक्ति किसी क़दर न्यून नहीं है। धार्मिक भाषा में कह सकते हैं कि सबको राम अपने धाम का निवासी बनाना स्वीकार करते हैं। साहित्यिक भाषा में कह सकते हैं कि सबका राम के व्यक्तित्व से ही उद्गम होता है और उसी में समाहार। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'राम चरितमानस' अद्वितीय है।

काव्य की आत्मा रस है। यदि भक्ति के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर विचार किया जाय तो तुलसी के काव्य में शान्त-रस का प्राधान्य माना जायगा। उनके सभी ग्रन्थों में—विशेषकर 'विनय-पत्रिका' में जो उनकी भक्ति के दृष्टिकोण को समझने में सर्वाधिक सहायक है, वैराग्य की भावना ओतप्रोत है। परन्तु यह वैराग्य केवल मायामय संसार के प्रति है; और राम के अनुराग के आगे अत्यन्त फीका पड़ जाता है। राम के व्यक्तित्व पर ध्यान रखते हुए यह अनुराग और प्रेम की भावना ब्रह्माण्ड-व्यापिनी हो सकती है; शर्त केवल यह है कि चीज़ों के असली स्वरूप को समझा जाय। सीताराम-मय जानकर समस्त चराचर जगत् से अनुराग किया जा सकता है; बल्कि करना अनिवार्य है। अतः तुलसी के काव्य को वैराग्य का प्रचारक नहीं मानना चाहिए। वास्तव में उसमें 'भक्तिरस' का प्राधान्य है, जो दास्य भाव की प्रीति-रति के विचार से शृंगार-रस का ही एक रूप माना जा सकता है। पिछले अध्याय में इसके कुछ उदाहरण दिये जा चुके हैं। तुलसीदासजी मानस को समाप्त करते हुए कहते हैं—

कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं जिमि प्रिय दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम ॥

शुद्ध भक्ति-रस का सर्वोत्तम उदाहरण जिसमें कर्त्तव्य-ज्ञान का लेश मात्र नहीं है, राम-वन-गमन के अवसर पर पुरवासियों की प्रीति-रति की भावनाओं का चित्रण है। इस रति का आधार केवल मात्र रूप का आकर्षण है। राम की छवि को देखकर पुरवासियों के हृदय में, जो 'राम' के विषय में कुछ भी नहीं जानते हैं, निश्छल प्रेम का एकाएक उदय होता है :—

सजल विलोचन पुलक सरीरा। सब भये मगन देखि दोउ बीरा।
बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढेरी।
एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन एहीं।
रामहि देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे।
एक नयन मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन मन बर बानी।
एक देखि बट छाँह भलि डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं गवाँइय छिनुक स्रमु गवनब अबहिं कि प्रात॥

× × × ×

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महुँ मुसुकानी।
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकत धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी।
सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी।
सहज सुभाय सुभग तनु गोरे। नामु लषन लघु देवर मोरे।
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पियतन चितइ भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निजपति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि।
भई मुदित सब ग्राम बधूटी। रंकन्ह रायरासि जनु लूटी।
पारबती सम पति प्रिय होहू। देवि न हम पर छाड़बि छोहू।

× × × ×

पुरवासिनी स्त्रियों की रति रूप के आकर्षण से आरम्भ होकर भी उस सीमा पर नहीं पहुँचती जहाँ उसमें मधुर-शृंगार का भाव आ जाय। राम-काव्य और कृष्ण-काव्य के अन्तर का सबसे स्पष्ट उदाहरण यही है। एक ही प्रकार के आलम्बन के प्रति दो प्रकार के विभिन्न भाव उदय हो

सकते हैं, यह बात इन ग्राम-वासिनी स्त्रियों और व्रज की गोपियों के उदाहरणों से सिद्ध होती है। तुलसीदासजी का यह वर्णन उनकी काव्य-कुशलता का तो सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है ही, साथ ही यह उनकी भक्ति के दृष्टिकोण को भी स्पष्ट करता है, जिसके अनुसार वे व्यक्तिगत भक्ति और सामाजिक आचार या मर्यादा का सुन्दर सामञ्जस्य उपस्थित करते हैं।

राम के प्रति जिस रति की व्यञ्जना तुलसीदासजी ने की है, वह राम के व्यक्तित्व के विचार से लोकव्यापिनी है। राम जिस समाज के सञ्चालक और नायक हैं वह पारलौकिक नहीं है; बल्कि वह इसी लोक का एक आदर्श समाज है। उस समाज के प्राणी भी हमारी तरह समस्त मानवीय भावनाओं—राग-द्वेष, भय, ग्लानि, आदि—के द्वारा आन्दोलित और सञ्चालित होते हैं। तुलसीदासजी ने इन समस्त मानवीय भावनाओं का विशद और काव्यमय चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक ढङ्ग से किया है। यही कारण है कि उनके काव्य में साहित्य के नव रसों के सभी भावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों आदि के सुन्दर से सुन्दर उदाहरण मिल सकते हैं। राम और सीता के मधुर प्रेम के चित्रण में तुलसीदासजी ने जिस कौशल और सावधानी से काम लिया है वह संसार के साहित्य में बेजोड़ है। पिछले अध्याय में पुष्पवाटिका के प्रसङ्ग से एक अवतरण दिया जा चुका है। शृङ्गार के उस वातावरण में राम के मन में जिस प्रेम का उदय होता है वह सद्योजात होते हुए भी अमर्यादित विकार से रहित है। सीता के सौन्दर्य से उत्पन्न मन के सहज क्षोभ को वे निष्कपट भाव से अपने भाई पर प्रकट कर देते हैं :—

मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा विस्व विजय कहँ कीन्ही।
तात जनक-तनया यह सोई। धनुष-जग्य जेहि कारन होई।
पूजन गौरि सखी लइ आई। करत प्रकास फिरइ फुलवाई।
जासु विलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा।
सो सब कारन जान विधाता। फरकहिं सुभग अङ्ग सुनु भ्राता।

जिससे भाई के मन में किसी प्रकार का सन्देह न रह जाय, रामचन्द्र जी दृढ़ता और विश्वास के साथ कहते हैं—

रघुवंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पगु धरहिं न काऊ।
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी।

शृङ्गार के वातावरण में वीर-भाव के ये वाक्य पाठक को सावधान कर देते हैं, उसका मन लौकिकता के निम्न स्तर—ऐंद्रियिकता की तरफ़ जा ही नहीं सकता। उपर्युक्त वीर-भाव के वाक्यों से संभव है, शृङ्गार-रस में व्यतिक्रम आ जाता। इसी संभावना को मिटाने के लिए तुलसीदासजी फ़ौरन याद दिलाते हैं :—

करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लुभान।
मुख-सरोज-मकरंद-छवि करै मधुप इव पान॥

थोड़े से शब्दों में तुलसीदासजी रस की व्यंजना करने में बहुत पटु हैं। निम्न उद्धरण में अनुभाव के द्वारा शृंगार की व्यञ्जना कितने सुन्दर ढङ्ग से हुई है—

दूलह श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि बेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं।

राम को रूप निहारति जानकि कङ्कन के नग की परछाहीं।
यातैं सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं।

राम-सीता के शृङ्गार-वर्णन में गोस्वामी जी ने कहीं एकान्त का वर्णन नहीं किया है। पुष्प-वाटिका के प्रसङ्ग में ही लक्ष्मण रामचन्द्र के कोमल से कोमल भावों के भागी बनते हैं। इसी प्रकार वियोग-शृङ्गार के वर्णन में भी तुलसीदासजी के राम लक्ष्मण से किसी प्रकार का पर्दा नहीं करते। सीता-हरण के समय पर राम लक्ष्मण के सामने स्पष्टतया अपने हृदय के दैन्य का प्रकाशन करते हैं। परन्तु उनकी गम्भीरता सदैव उन्हें सँभाल लेती है। सीता के वियोग में भी वे लक्ष्मण को धर्म के उपदेश देते रहते हैं। ऐसा बहुत कम होता है जब उनके हृदय की वेदना उभड़कर प्रकाशित हो जाती हो। वर्षा के उमड़ते हुए बादलों को देखकर उन्हें सीता की याद आती है और वे लक्ष्मण से कहते हैं :—

घन घमण्ड नभ गरजत घोरा। प्रियाहीन डरपत मन मोरा।

परन्तु इसके बाद ही वे सँभल जाते हैं और अपना उपदेश पुनः आरम्भ कर देते हैं। इसी प्रकार शरद् ऋतु के आरम्भ में उन्हें फिर सीता के वियोग की वेदना विकल करती है और वे लक्ष्मण से कहते हैं :—

बरषा गत निर्मल ऋतु आई। सुधि न तात सीता कै पाई।
एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं। कालहु जीति निमिष महुँ आनौं।
कतहुँ रहौ जौं जीवित होई। तात जतन करि आनौं सोई।
सुग्रीवँहुसुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी।
जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहि सर हतौं मूढ़ कहुँ काली।

उपर्युक्त अवतरण में अमर्ष और गर्व आदि व्यभिचारी भाव वियोग-शृङ्गार के अन्तर्गत ही हैं। परन्तु लक्ष्मण के हृदय में उन्हें सुनकर कातरता नहीं आ सकती।

तुलसी के राम-काव्य का शृङ्गार रस पूर्ण रूप से परिपक्व और अत्यन्त प्रभावशाली होते हुए भी भक्ति-रस और प्रीतिरति के अन्तर्गत ही है। तुलसीदासजी सदैव इस बात का ध्यान रखते हैं कि कहीं यह बात किसी की दृष्टि से ओझल न हो जाय। इसी लिए वे बराबर याद दिलाते रहते हैं :—

पूरन काम राम सुख रासी। मनुज चरित कर अज अविनासी।

शृङ्गार के अलावा और रसों के उदाहरण भी तुलसी के काव्य से प्रचुर मात्रा में दिये जा सकते हैं। कवितावली के सुन्दर कांड में भयानक रस का बड़ा सुन्दर परिपाक हुआ है। एक उदाहरण देते हैं—

लपट कराल ज्वाल जाल माल दहूँ दिसि,
    धूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे।
पानी को ललात, बिललात, जरे गात जात,
    परे पाइमाल जात, भ्रात! तू निबाहि रे।
प्रिया तू पराहि, नाथ नाथ! तू पराहि, बाप
    बाप! तू पराहि, पूत पूत! तू पराहि रे।
'तुलसी' बिलोकि लोग व्याकुल बिहाल कहैं
    लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे।

'अरण्य काण्ड' में तपोव्रतधारी मुनियों की मोहासक्ति को देखकर किसे हँसी न आ जायगी?—

बिंध्य के बासी उदासी तपोब्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनिबृन्द सुखारे।
ह्वैहैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद-मंजुल-कञ्ज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू, करुना करि कानन को पगु धारे॥

शिवजी की बारात का वर्णन तो हास्य का श्रेष्ठ उदाहरण है ही :—

सिवहिं संभुगन करहिं सिँगारा। जटा मुकुट अहि मौर सँवारा।
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तन बिभूति पट केहरि छाला।
ससि ललाट सुन्दर सिर गंगा। नयन तीनि उपवीत भुजंगा।

+ + +

देखि सिवहिं सुरतिय मुसुकाहीं। बर लायक दुलहिन जग नाहीं।
बिस्नु बिरंचि आदि सुर ब्राता। चढ़ि चढ़ि बाहन चले बराता।

+ + +

नाना बाहन नाना बेखा। बिहँसे सिव समाज निज देखा।
कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू।
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना। रिष्ट पुष्ट कोउ अति तन खीना।

बीभत्स रस का कैसा सुन्दर उदाहरण है :—

ओझरी की झोरी काँधे, आँतनि की सेल्ही बाँधे,
मुंड के कमंडलु, खपर किये कोरि कै।
जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी,
तीर तीर बैठीं सो समर सरि खोरि कै॥
सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।

'तुलसी' बैताल भूत साथ लिये भूतनाथ,
हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै ॥

स्थानाभाव से हम यहाँ अन्य रसों के उदाहरण नहीं दे सकते। परन्तु तुलसी के काव्य से—केवल रामचरितमानस से ही—परिचित प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि रस की दृष्टि से तुलसी का काव्य परिपूर्ण है।

छन्द और अलंकार की दृष्टि से भी तुलसीदासजी ने अद्वितीय सफलता प्राप्त की है। जिस प्रकार धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में तुलसीदासजी ने प्राचीन काल से प्रचलित सिद्धान्तों और विचारों का समयानुकूल सामंजस्य किया है उसी प्रकार काव्य-क्षेत्र में भी हिन्दी में अपने समय तक प्रचलित सभी शैलियों को अपनाकर उनका सुथरा, साहित्यिक और संस्कृत रूप उपस्थित किया है। वीरगाथाकाल के छप्पय, विद्यापति और सूरदास के गीत, गंग आदि भाटों के सवैया-कवित्त, कबीर के दोहे, जायसी के दोहे-चौपाई की शैलियाँ तुलसी द्वारा स्वीकृत होकर अत्यन्त आकर्षक और मनोहर रूप में हमारे सामने आई हैं। इनके अलावा सोहर, बरवै आदि छन्द भी तुलसी ने लिखे हैं। इतनी विविधता हिन्दी के अन्य किसी कवि में न मिलेगी।

तुलसी की भाषा परिमार्जित, सुष्ठु और संस्कृत है। उसकी व्यंजना-शक्ति अद्भुत और अद्वितीय है। पंडितों ने यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि तुलसीदासजी एक भी शब्द व्यर्थ नहीं रखते, और प्रत्येक शब्द को पूरे तौर से नाप-तौल करके अपने-अपने स्थान पर जमा देते हैं, जिसमें किसी प्रकार का फेर-फार नहीं किया जा सकता। उनकी शैली स्वाभाविक और सीधी होने के साथ ही आवश्यकतानुसार

अलंकृत भी होती है। 'मानस' तथा तुलसी के अन्य ग्रन्थों से सभी अलंकारों के उदाहरण दिये जाते हैं। अलंकारों की पुस्तकों में ये उदाहरण भरे पड़े हैं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि वैष्णव-भक्ति और काव्य दोनों की दृष्टि से तुलसीदासजी का स्थान अत्यन्त उच्च है। समाज-सुधारकों और कवियों में सर्वोच्च स्थान के अधिकारी होते हुए भी तुलसी का अपना चुना हुआ क्षेत्र न तो समाज-सुधार है न काव्य। उनका असली क्षेत्र तो वैष्णव-भक्ति है। यह उनकी भक्ति की विशेषता है कि समाज-सुधार उसका एक अनिवार्य अङ्ग बन गया; और यह उनके भक्त हृदय की भावुकता तथा उसके प्रयोग की अप्रतिम कुशलता है जिसके कारण उनकी भक्ति की व्यंजना श्रेष्ठ काव्य के रूप में हुई।

जीवन-वृत्त

जन्म, मृत्यु और भोग के पार्थिव जीवन-वृत्त को इतिहास समझने-वाले आजकल के ज़माने में तुलसीदास जी की जीवनी की खोज हुई; और जिस बात की ओर तीन सौ वर्षों तक लोगों ने ज़रा भी ध्यान न दिया था उसकी छानबीन आरम्भ हुई। यह बात नहीं है कि पिछले तीन सौ वर्षों में तुलसीदास जी के व्यक्तित्व से लोग किसी प्रकार अपरिचित रहे हों; बल्कि बात बिल्कुल उलटी है। हमारे पूर्वजों को फल खाने से प्रयोजन था, पेड़ गिनने से नहीं। देश और काल उनके निकट बिल्कुल मिथ्या वस्तुएँ थीं। महान् व्यक्ति देश और काल के व्यवधान को पार कर जाते हैं। उनका अस्तित्व सब देशों में, सब कालों में, अजर-अमर है। तुलसीदासजी भी ऐसे ही एक महान् व्यक्ति थे,

जिन्हें कोई देश और कोई काल अपनी सङ्कुचित सीमाओं में बाँधकर नहीं रख सकता। जिस अकबर महान् के समय में उनका होना बताया जाता है, उसका नाम उसके इतिहासकारों के द्वारा भी इतना लोकप्रिय और प्रभावोत्पादक नहीं हो सका, जितना गोस्वामीजी का जिनका नाम तत्कालीन किसी इतिहासकार ने भूलकर भी नहीं लिया। इसी लिए हमें गोस्वामीजी के विषय में सन्-संवत्-सम्बन्धी बातों का निश्चयात्मक ज्ञान न प्राप्त होने पर भी विशेष निराशा नहीं होती। गोस्वामीजी से हमारा इतना अधिक परिचय है, जितना इतिहास के किसी ऐसे व्यक्ति से नहीं हो सकता, जिसके बारे में संवत् इत्यादि का पूर्ण ब्योरेवार ज्ञान हो। उनका जो असली व्यक्तित्व था, उसे वे जनसाधारण की सम्पत्ति बना गये। अपने सांसारिक व्यक्तित्व के विषय में वे सदैव उदासीन रहे। अपनी व्यक्तिगत सत्ता को तो वे स्वीकार करना भी लज्जा की वस्तु समझते थे; क्योंकि उनकी दृष्टि में अपने को मिटाकर राम में एकाकार हो जाना ही सार्थक था। इसलिए अपने विषय में जो कथन उन्होंने अपने ग्रंथों में यत्र-तत्र किये हैं वे अत्यन्त दीनता-हीनता के सूचक हैं; जैसे,

पातक पीन, कुदारिद दीन, मलीन धरे कथरी करवा है,
लोक कहै, विधिहू न लिख्यो सपनेहू नहीं, अपने बरवा है।
राम को किङ्कर सो तुलसी समुझेहि भलो कहिबो न रवा है,
ऐसे को ऐसो भयो कबहूँ न भजे बिन बानर के चरवाहै॥

(कवितावली)

तथा

हाहा करि दीनता कही द्वार द्वार बार बार परी न छार मुँह बायो,
असन बसन बिन बावरो जहँ तहँ उठि धायो।
महिमा मान प्रिय प्रान ते तजि खोलि खलन आगे खिनु पेट खलायो।
साँच कहौं नाच कौन सो जो न मोहिं लोभ लघु निलज नचायो ॥
(विनयपत्रिका)

इस प्रकार अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इन स्वकथनों तथा अन्य यत्र तत्र बिखरे हुए आत्मनिर्देशों को इकट्ठा करके तुलसीदास जी के जीवन के विषय में एक अपूर्ण ढाँचा तैयार किया जा सकता है; परन्तु उसके विषय में निश्चय-पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता; बल्कि उसे ऐतिहासिक सत्य मानने में सावधानी और सतर्कता से काम लेना आवश्यक है। ऐसा कोई ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं जो तुलसीदास जी की जीवनी के विषय में कुछ भी प्रकाश डाल सके, या जो कम से कम उनके आत्म-निर्देशों के विषय में निर्णयात्मक प्रमाण दे सके। बाबा बेनीमाधवदास कृत 'गोसाईंचरित्र' तथा बाबा रघुबरदास कृत 'तुलसीचरित' की प्रामाणिकता की परीक्षा करके विद्वानों ने उनके विरुद्ध मत दिया है। इसलिए जनश्रुतियों, आत्मनिर्देशों तथा भक्तमाल जैसे एकाध प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर तुलसीदासजी की जीवनी के बारे में जो कुछ जाना जा सकता है वह जीवनी के दृष्टिकोण से अत्यन्त अल्प और संक्षिप्त है।

तुलसीदासजी का जन्म संवत् १५८९ विक्रमी में हुआ बताया जाता है 'तुलसी परासर गोत दुबे पतिऔजा के' के अनुसार ये सनाढ्य द्विवेदी

ब्राह्मण कुल में उत्पन्न बताये जाते हैं। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का हुलसी था। 'जनक जननि तज्यो जनमि, करम बिनु विधिहु सृज्यो अवडेरे' (कवितावली) तथा 'तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु पिताहू' (विनयपत्रिका) आदि के आधार पर कहा जाता है कि जन्म लेतेही इन्हें माता पिता ने त्याग दिया था; क्योंकि ये अभुक्तमूल में उत्पन्न हुए थे। इसी के सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि जन्म के समय ये पाँच वर्ष के बालक के समान थे, और रोने के स्थान पर 'राम' 'राम' पुकारते थे। माता पिता ने इन्हें अपनी एक दासी मुनिया को पालने-पोसने के लिए दे दिया। पाँच वर्ष बाद उसका देहान्त हो गया। फिर भी माता-पिता ने बालक को लेने से इन्कार कर दिया। अनाथ बालक ने न जाने कितनी मुसीबत में अपने दिन काटे। 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' में आत्मनिवेदन के पदों में वर्णित दैन्यावस्था कदाचित् इसी समय का निर्देश करती है। अन्त में बाबा नरहरिदास ने उसे शरण दी, शिक्षा-दीक्षा दी और राम की कथा के प्रति उनके हृदय में अनुराग उत्पन्न किया। गोस्वामीजी ने स्वयं कहा है—

मैं पुनि निज गुरुसन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रह्यो अचेत।
तदपि कही गुरु बारम्बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।

'सूकर खेत' से ये काशी में आकर पञ्चगङ्गा घाट पर रहने लगे। यहीं पर महात्मा शेष सनातन से इन्होंने वेद-पुराण आदि अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया। अध्ययन समाप्त करके ये अपनी जन्मभूमि को लौट आये।

तुलसीदासजी का विवाह भारद्वाजगोत्री एक ब्राह्मण-कन्या से हुआ था। ये अपनी पत्नी पर अत्यन्त अनुरक्त थे, यहाँ तक कि एक बार उसके मायके चले जाने पर ये आँधी तूफ़ान की परवा न करके बढ़ी नदी पार करके रात में जाकर उससे मिले। पत्नी ने भर्त्सना-पूर्वक कहा—

लाज न लागत आपको, दौरे आएहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि-चर्म-मय देह मम तामैं ऐसी प्रीति।
तैसी जौ श्रीराम महँ होति न तौ भवभीति॥

पत्नी की भर्त्सना भावुक तुलसीदास के दिल पर गहरी चोट कर गई और उनका जीवन एकदम वैराग्य-पूर्ण हो गया। काशी जाकर इन्होंने अपने नवीन जीवन का सूत्रपात किया। सबसे पहले इन्होंने समस्त प्रसिद्ध तीर्थों की यात्रा की। अयोध्या, काशी और चित्रकूट इन्हें विशेष प्रिय थे। अयोध्या में ही इन्होंने संवत् १६३१ में 'रामचरितमानस' का आरम्भ किया था। जीवन के अनेक अंतिम वर्ष इन्होंने काशी में बिताये। 'रामचरितमानस' का भी कुछ अंश काशी में लिखा गया।

अपने जीवनकाल में ही गोस्वामीजी की ख्याति बहुत हो गई थी और आर्थिक दृष्टि से भी ये अपेक्षाकृत निश्चिंत हो गये होंगे। इन्होंने स्वयं कहा है—

तुलसी गुसाईं भयो भोंड़े दिन भूलि गयो।

'गुसाईं' की उपाधि इन्हें कैसे मिली, इस सम्बन्ध में निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। यद्यपि अकबर और जहाँगीर के किसी इतिहासकार ने गोस्वामीजी का नाम तक अपने किसी ग्रन्थ में नहीं लिखा, फिर भी

अकबरी दरबार के प्रसिद्ध नवाब अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना और महाराज मानसिंह से इनका घनिष्ठ परिचय होना बताया जाता है। परम भक्त नाभादास से भी इनका परिचय था। नाभादासजी ने अपने भक्तमाल में इनके विषय में जो छप्पय दिया है उसमें इन्हें अपनी भक्त-माल का सुमेरु कहा है। गोस्वामीजी के परम प्रिय मित्र एक टोडर नाम के काशी के ज़मींदार थे। तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में कहा है कि कवियों द्वारा प्राकृत-जनों का गुणगान होने से वाणी सिर धुनकर पछताने लगी; जिससे सिद्ध होता है कि नर-काव्य करना इनकी दृष्टि में अत्यन्त गर्हित था। परन्तु टोडर की मृत्यु पर स्वयं इन्होंने कुछ दोहे लिखे थे। कितनी व्यथा के साथ ये कहते हैं—

तुलसी राम सनेह को सिर पर भारी भारु।
टोडर काँधा नहिं दियो, सब कहि रहे उतारु॥

जनश्रुति के अनुसार गोस्वामीजी की मृत्यु संवत् १६८० में हुई थी। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध है—

संवत् सोरह सै असी, असी गङ्ग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

परन्तु 'श्रावण शुक्ला सप्तमी' के विषय में मतभेद है। टोडर के वंशज गोस्वामीजी की स्मृति में अब तक श्रावण कृष्ण तृतीया को एक सीधा दिया करते हैं। सम्भव है, गोस्वामीजी का निधन इसी तिथि को हुआ हो। बाबा बेनीमाधवदास के 'गोसाईं-चरित' में भी उक्त दोहे की दूसरी पंक्ति यों है—

श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर।

गोस्वामीजी के विषय में अनेक जनश्रुतियाँ हैं जिनमें बहुत सी कपोल-कल्पित होंगी। अनेक जन-श्रुतियाँ गोस्वामीजी के चमत्कारों का वर्णन करती हैं। ऐसी प्रसिद्धियाँ गोस्वामीजी जैसे महात्मा, भक्त और कवि के विषय में प्रचलित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जनश्रुतियों के अनुसार गोस्वामीजी का जन्मस्थान राजापुर प्रसिद्ध था; परन्तु इधर एटा जिले के सोरो नामक स्थान को 'सूकर खेत' मानकर उस स्थान को इनकी जन्म-भूमि सिद्ध करने के कई प्रयत्न हो रहे हैं। इस विषय में अब भी भारी मतभेद है। अतः निश्चय-पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

ग्रन्थ

यद्यपि केवल 'रामचरितमानस' तुलसी को अमर बनाने के लिए काफ़ी था, फिर भी अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि तुलसीदासजी ने अनेक ग्रन्थ रचे। उनके रचे हुए ग्रन्थों की संख्या पचीस तक बताई जाती है। पर इनमें कुछ कल्पित, कुछ क्षेपक आदि हैं। विद्वानों ने इनके ग्रन्थों की संख्या १२ निश्चित की है जिनमें ५ बड़े और ७ छोटे हैं। रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली और दोहावली बड़े ग्रन्थ हैं और रामललानहछू, पार्वतमंगल, जानकीमंगल, बरवैरामायण, वैराग्य-सन्दीपिनी, कृष्णगीतावली, और रामाज्ञा प्रश्नावली छोटे ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त शिवसिंह ने अपने 'सरोज' में इन दस ग्रन्थों के और नाम लिखे हैं—रामसतसई, हनुमान-बाहुक, रामसलाका, सङ्कटमोचन, छन्दावली, छप्पय-रामायण, रोला रामायण, कुंडलिया रामायण, कड़खा रामायण, और झूलना रामायण। इनमें से कई एक ग्रन्थ नहीं मिलते, कुछ दूसरे

नामों से ऊपर लिखे बारह ग्रन्थों के ही क्षेपकों द्वारा परिवर्द्धित रूप हैं, जैसे रामसतसई दोहावली का। 'हनुमानबाहुक' कवितावली के अन्तर्गत मान लिया जाता है।

उपर्युक्त ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय भी दे देना आवश्यक है। 'रामचरितमानस' तो लोकविख्यात ग्रन्थ है ही। इसमें राम की कथा विस्तार के साथ कही गई है; अन्य ग्रन्थ भी 'राम' के चरित का ही वर्णन या उनका गुणगान करते हैं और सभी में रामचरितमानस की कथा का ही आधार संदर्भ के रूप में लिया गया है। अतः तुलसीदासजी के अन्य ग्रन्थों को समझने के लिए भी रामचरितमानस से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इसमें सात काण्ड हैं, जिनमें राम के वन से लौटकर अयोध्या में राज्य-व्यवस्था सँभालने तक की कथा है। राम का उत्तर चरित तुलसीदासजी ने नहीं दिया। राम-सीता का वियोग उन्हें असह्य था। रामचरितमानस हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य माना जाता है। इसकी भाषा अवधी है। 'विनयपत्रिका' गेय पदों में संस्कृत-गर्भित ब्रजभाषा का ग्रन्थ है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह कवि का दीनता-पूर्ण आत्मनिवेदन है, जिसे एक पत्रिका—अर्ज़ी—के रूप में उसने महामहिमाशाली राजाधिराज रामचन्द्र के दरबार में पहुँचाया है। गोस्वामीजी के मतवाद और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को समझने के लिए विनय-पत्रिका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। हनुमानबाहुक को मिलाकर कवितावली में ३२४ छंद हैं। छंदों में सवैया, घनाक्षरी का बाहुल्य है और कुछ छप्पय भी हैं। यद्यपि इसका विभाजन काण्डों में किया गया है, फिर भी ध्यान से देखने पर यह एक सम्यक् ग्रन्थ नहीं जान पड़ता।

वास्तव में कवितावली भाटों की प्रचलित काव्य-शैली में गोस्वामीजी के समय समय पर बनाये हुए छन्दों का संग्रह है। हनुमानबाहुक-वाले छन्द बाहु-पीड़ा के समय हनुमान की स्तुति में लिखे गये थे। कवितावली और विनयपत्रिका दोनों में गोस्वामीजी की जीवनी से सम्बन्ध रखनेवाले छन्द और पद हैं। कवितावली में रुद्रबीसी (सं० १६६५-७०-७१) तथा मीन की सनीचरी (१६६६-७०-७१) का ज़िक्र है। दोहावली भी संग्रहग्रन्थ मालूम होता है और इसके अधिकांश दोहे रामचरितमानस से लिये गये हैं। इसका संग्रह, कहते हैं, टोडरमल के अनुरोध से किया गया था। 'गीतावली' पदों में राम-कथा का वर्णन करती है। इसकी भी भाषा व्रज है। इस पर सूरदास की शैली का स्पष्ट प्रभाव है। 'कृष्णगीतावली' भी सूरदास के पदों के अनुकरण पर लिखी जान पड़ती है। कहते हैं इसकी रचना गोस्वामीजी ने वृंदावन की यात्रा के समय की थी। 'जानकीमङ्गल' और 'पार्वतीमङ्गल' की रचना ठेट पूर्वी अवधी में हुई है। इनमें क्रमशः सीता और पार्वती के विवाह का वर्णन है। रामललानहछू भी अवधी भाषा में राम के नहछू का वर्णन करता है। इसमें शृङ्गार रस कुछ अरुचिकर-सा हो गया है। इसका वातावरण उच्च नहीं है। बरवै रामायण छोटे से छन्द में बहुत सा भाव भरने की प्रौढ़ शैली का उत्तम उदाहरण है। इसके छन्दों की रचना फुटकर की हुई जान पड़ती है। उक्तियों और अलङ्कारों की बहार इसमें देखने योग्य है। कहते हैं, गोस्वामीजी ने इसकी रचना अपने मित्र अब्दुर्रहीम खानखाना के 'बरवै नायिकाभेद' के अनुकरण पर की थी। वैराग्यसंदीपनी में भक्ति और ज्ञान सम्बन्धी दोहे हैं। इसमें ज्ञान और वैराग्य की महत्ता वर्णित है।

गोस्वामीजी की ख्याति केवल 'मानस' के बल पर सदैव अक्षुण्ण रहेगी। उसी के सहारे उनकी अन्य रचनाएँ भी लोक-प्रिय बनी रह सकती हैं। राम-काव्य पर गोस्वामीजी अकेले इतना अधिक लिख गये थे कि उनके बाद कोई ऐसा कवि न हुआ जो इस विषय को छूता। बात यह है कि तुलसीदासजी ने जिस विषय को उठाया उसी को पूर्णता पर पहुँचा दिया। व्रजभाषा और अवधी दोनों भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। अवधी के कई रूप—पूर्वी और पश्चिमी, तथा व्रज आदि से मिश्रित—उनके ग्रन्थों में मिलते हैं। बुंदेली, छत्तीसगढ़ी और भोजपुरी तक के प्रयोग उनके काव्य में प्रचुर मात्रा में मिलेंगे। भाषा का संस्कृत और शिष्ट रूप कदाचित् तुलसीदास ने ही आरम्भ किया और उस कक्षा तक कोई परवर्त्ती कवि भी नहीं पहुँच सका। हिन्दी में प्रचलित प्रत्येक शैली में उन्होंने ऐसी रचनाएँ कीं जिनका जोड़ मिलना कठिन है। विषय-विस्तार एवं भाव-प्रकाशन की दृष्टि से भी उनकी तुलना के लिए कोई नहीं मिलता। संक्षेप में तुलसीदासजी ने कम से कम राम-काव्य की सारी संभावनाओं को समाप्त कर दिया था। अतः हिन्दी-काव्य की इस धारा में जो भी कवि हुए, उनका स्थान साहित्य में अत्यन्त गौण है।

राम-काव्य के परवर्त्ती कवि

इन कवियों में केवल स्वामी अग्रदास, नाभादास, प्राणचन्द चौहान और हृदयराम के नाम उल्लेखयोग्य हैं।

स्वामी अग्रदास—ये रामानन्दजी की शिष्य-परम्परा में हुए थे। इनका समय संवत् १६३२ के आसपास कहा जाता है। इनकी चार रचनाओं का उल्लेख मिलता है—हितोपदेश-उपखाणां बावनी, ध्यान-

मञ्जरी, रामध्यानमञ्जरी और कुण्डलिया। इनकी शैली शिष्ट और साहित्यिक है; जैसे—

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा।
तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा॥
मेचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाये।
मुख-पङ्कज के निकट मनो अलि-छौना आये॥

नाभादास—वैष्णव-भक्तों में प्रसिद्ध भक्तमाल नामक ग्रन्थ के रचयिता भक्तवर नाभादासजी स्वामी अग्रदास के शिष्य थे। ये गोस्वामी तुलसीदासजी के समकालीन थे और उनके बहुत बाद तक जीवित रहे। भक्तमाल की रचना का समय संवत् १६४२ के बाद का है। इसमें २०० भक्तों के चरित्र छप्पय छन्दों में लिखे गये हैं, जिनकी संख्या ३१६ है। इनमें भक्तों की महिमा का वर्णन है। बाद में इनके पुत्र प्रियादास ने भक्तमाल की पद्य-बद्ध टीका लिखी। नाभा की जाति क्या थी, यह निश्चित नहीं है। कुछ लोग इन्हें डोम बताते हैं और कुछ क्षत्रिय। एक बार इनके अप्रसन्न हो जाने पर गोस्वामी तुलसीदासजी इनसे मिलने वृंदावन गये और वहाँ अपनी नम्रता तथा साधुभक्ति से इन्हें प्रसन्न कर लिया। नाभादास ने रामभक्ति-सम्बन्धिनी कविता बनाई है। इनकी भाषा व्रज थी। भक्तमाल के अतिरिक्त इनका एक पद-संग्रह तथा दो 'अष्टयाम'—एक गद्य में और दूसरा पद्य में—और मिलते हैं। तुलसीदास के सम्बन्ध में नाभादास ने जो छप्पय लिखा है वह यों है—

त्रेता काव्य-निबंध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि-परायन।

रामभक्ति के अन्तर्गत 'स्व-सुखी' शाखा के नाम एक पंथ खोल दिया जिसके अनुयायी स्त्री-वेष धारण करके 'लाल साहब' (राम) के साथ मधुर-संयोग करने का उपक्रम करते हैं। रामचरणदास जी ने अनेक ग्रन्थों की रचना करके या कराके, उन्हें प्राचीनता का आवरण और नाम देकर अपने पन्थ में प्रचलित किया, जैसे अमररामायण, भुशुंडी-रामायण, लोमशसंहिता, हनुमत्संहिता, महारामायण, कोशलखण्ड, महारासोत्सव आदि। इनमें राम की रासलीला, विलासक्रीड़ा आदि के शृङ्गारीय वर्णन हैं। कृष्ण-भक्ति के गोलोक के विहार और नृत्य को जैसा का तैसा साकेत धाम में लाकर राम को कृष्ण के समान दक्षिण नायक बना दिया गया।

एक दूसरे रामभक्त जीवारामजी ने 'पति-पत्नी भाव' के बजाय 'सखीभाव' की उपासना चलाकर 'तत्सुखी' नाम से एक नई राम-भक्ति शाखा खोल दी। इस शाखा के प्रचारक और प्रसारक युगलानन्यशरणजी हुए। रीवाँ के महाराज रघुराज सिंहजी इनके बड़े भक्त थे। इन्होंने 'युगल सरकार' की प्रेम-क्रीड़ाओं का प्रचार किया और राम-भक्ति को कृष्ण-भक्ति के समान ऐहिक आकर्षण से भर दिया। अयोध्या के इन नवीन राम-भक्तों ने भले ही अपनी भक्तिभावना की प्रेरणा से रामभक्ति में यह परिवर्त्तन किया हो, पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि राम-भक्ति का जो आदर्श तुलसीदासजी ने चलाया था उससे ये भक्त अवश्य डिग गये और तुलसीदासजी की विचारधारा पर सोचनेवालों की दृष्टि में राम-भक्ति में पतन लाने के कारण इन्हीं ने उपस्थित किये।

महाराज रघुराजसिंह—प्रसिद्ध रामभक्त और कवि रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह 'राम-स्वयंवर', रामाष्टयाम आदि राम-काव्य सम्बन्

ग्रन्थ रचकर पुरानी परिपाटी की राम-भक्ति की कविता को बीसवीं सदी तक खींच लाये। इनकी मृत्यु संवत् १६३६ में हुई थी।

बाबा रघुनाथदास रामसनेही—संवत् १६११ में इन्होंने 'विश्राम-सागर' नामक भक्ति का ग्रन्थ रचा। ये अयोध्या के रहनेवाले राम-भक्त साधु थे।

आ—कृष्ण-काव्य की धारा

(अ) परम्परा

वास्तव में वैष्णव-काव्य नाम लेने मात्र से हमारा ध्यान एकाएक कृष्ण-साहित्य की तरफ़ चला जाता है। हिन्दी का वैष्णव-साहित्य ही नहीं प्रत्युत समस्त प्राचीन साहित्य अधिकांश में कृष्ण-साहित्य है। काल-क्रम की दृष्टि से भी हिन्दी का कृष्ण-काव्य प्राचीनतर है। संस्कृत में यद्यपि वाल्मीकि-रामायण आदि-काव्य माना जाता है, और इस दृष्टि से राम-काव्य कृष्ण-काव्य से पहले का है; परन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वाल्मीकि के बाद राम-काव्य का उतना विकास नहीं हुआ जितना मध्य-युग के कृष्ण-काव्य का।

मध्य-युग के आचार्यों में मध्वाचार्य, निम्बार्क-स्वामी, विष्णुस्वामी और वल्लभाचार्य हुए हैं। हिन्दी के कृष्णभक्त कवि अधिकांश में इन्हीं आचार्यों द्वारा प्रतिपादित किसी न किसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं, जिनके संप्रदाय के संबंध में किसी प्रकार का प्रामाणिक ज्ञान नहीं है। ऐसे भक्त कवि अपने-अपने विश्वासों के अनुसार कृष्ण का कीर्त्तन और गुण-गान किया करते थे।

मीराबाई ऐसे ही भक्त कवियों में अग्रगण्य हुई हैं। इनके अतिरिक्त कृष्ण और राधा के सम्बन्ध में कविता करनेवाले कुछ कवि ऐसे भी हैं जो भक्त तो थे, पर वैष्णव नहीं। असल में वैष्णव कवियों में उनकी गणना न होनी चाहिए, पर उनके द्वारा रचित कृष्ण-काव्य न केवल काव्य-रसिकों, बल्कि भक्तों को भी तन्मय और आनन्द-विभोर करने का गुण रखता है। इसी से उनके काव्य में वैष्णव-काव्य कहलाने की योग्यता है। विद्यापति की पदावली इसी काव्य के अन्तर्गत आती है।

विद्यापति की पदावली पर विचार करते हुए हमारे सामने एक प्रश्न उठता है कि जिन कवियों के द्वारा राधा और कृष्ण इष्टदेव के रूप में स्वीकृत नहीं हुए, उन्होंने उनको अपने काव्य का विषय क्यों बनाया? विद्यापति शैव थे, उनकी पदावली को देखने से मालूम होता है कि राधा और कृष्ण काव्य-रूप में बहुत पहले से स्वीकृत हो चुके थे। आचार्यों ने कृष्ण के शृङ्गारी रूप को सैद्धान्तिक आधार देकर उनके सम्बन्ध में शृङ्गार-पूर्ण आख्यान बनने का साधन उपस्थित कर दिया था। पुराणों में ये आख्यान भरे पड़े हैं। यद्यपि पौराणिक कथाओं को साहित्य नहीं माना जाता फिर भी कृष्ण-लीला के वर्णनों में काव्य के प्रायः समस्त गुण मिल जाते हैं। चैतन्य महाप्रभु ने अपनी भावुक भक्ति के द्वारा कृष्ण-भक्ति के उस पहलू को एक नवीन प्रेरणा दी, जिसके कारण वह अत्यन्त सरस काव्य का विषय बन सका। उनसे पहले बारहवीं सदी में जयदेव ने गीतगोविन्द रचकर कृष्ण के शृङ्गार-वर्णन को काव्य और धर्म का एक निश्चित विषय बना दिया। कृष्णभक्ति के पहले शिव-भक्ति के साथ शृङ्गार का काफ़ी योग हो चुका था। पाँचवीं सदी ईसवी में

शिव-पार्वती सम्बन्धी धारणाएँ तांत्रिक कृत्यों के साथ जुड़कर शिव और पार्वती में मानवीय इच्छाओं की कल्पना करने का कारण हुईं। वास्तव में शिव-भक्ति के साथ शृङ्गार का योग होने का कारण तान्त्रिकों का प्रभाव ही है। धर्म के साथ शृङ्गार का यह योग स्थायी हो गया। धार्मिक काव्य की तथाकथित अश्लीलता भी, जिसकी शिकायत अक्सर हिन्दी के आलोचक किया करते हैं, तान्त्रिकों के प्रभाव से ही पैदा हुई। कालिदास ने अपने इष्टदेव शिव-पार्वती का खुला शृङ्गार 'कुमारसम्भव' में लिखा है। बारहवीं सदी ईसवी तक, अर्थात् गोवर्धनाचार्य की 'आर्या-सप्तशती' के निर्माण तक, शिव और पार्वती शृङ्गारी काव्य के प्रतीक नायक-नायिका बने रहे। उसके बाद राधा-कृष्ण की बारी आई और जयदेव ने 'राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः' की प्रस्तावना के साथ काव्य-जगत् को नवीन नायक-नायिका प्रदान किये।

विद्यापति

विद्यापति ने जयदेव के पथ का अनुसरण करके अपनी सरस पदावली की रचना की। इनका समय चोदहवां सदी ईसवी का अंतिम और पन्द्रहवां सदी का आरम्भ माना गया है। उस समय तक बङ्गाल में राधा-कृष्ण-भक्ति को पवित्रता प्राप्त हो चुकी थी और मध्व तथा निम्बार्क आचार्यों द्वारा प्रचारित कृष्णभक्ति लोकप्रिय हो रही थी। यही कारण है कि भक्ति की पवित्र प्रेरणा से न लिखे जाकर भी विद्यापति के पद चैतन्य द्वारा धार्मिक क्षेत्र में स्वीकृत होकर भक्तों को आत्मविस्मृत कर देने की योग्यता रख सके। विद्यापति ने राधा और कृष्ण के शृङ्गार-वर्णन में

तनिक भी सङ्कोच नहीं दिखाया; फिर भी उनके अश्लील से अश्लील कहे जानेवाले पदों में भक्तगण भक्ति का उन्मेष पाते हैं। राधा-कृष्ण-केलि को वे सदैव पवित्रता की दृष्टि से देखते हैं। विद्यापति ने 'पदावली' के आरम्भ में कृष्ण के जिस रूप की वन्दना की है वह देखिए—

नन्द क नन्द कदम्ब क तरु-तर धिरे धिरे मुरलि बजाउ।
समय सङ्केत-निकेतन बइसल बेरि बेरि बोलि पठाउ।
सामरि, तोरा लागि अनुखन अनुखन विकल मुरारि।
जमुना क तिर उपवन उदवेगल फिरि फिरि ततहि निहारि।
गोरस बेंचए अब इत जाइत जनि जनि पुछ बनमारि।
तोंहे मतिमान, सुमति, मधुसूदन बचन सुनह किछु मोरा।
भनइ विद्यापति सुन बरजौवति बन्दह नंद-किसोरा॥

'पदावली' में वयसंधि, नखशिख, दूती, मिलन, अभिसार, मान, मानभङ्ग, विलास, विरह आदि शृङ्गार की सभी अवस्थाओं का सरस और मधुर वर्णन हुआ है। कहीं-कहीं वर्णन अत्यन्त नग्न और निम्न श्रेणी का भी हो गया है। ऐसे वर्णनों को भी कृष्ण-भक्ति के काव्य में रखनेवाले भक्तों पर आश्चर्य होने लगता है।

परन्तु निम्न गीतों की सरसता और भाव-प्रवणता भक्तों के हृदयों में भावोल्लास जाग्रत् करने में सहायक हो सकती है—

माधव तोहें जनु जाह विदेस।
हमरा रंग-रभस लए जएबह लएबह कौन संदेस॥
बनहि गमन करु होएनि दोसर मति बिसरि जाएब पति मोरा।
हीरा मनि मानिक एको नहि माँगब फेरि माँगब पहु तोरा॥

जखन गमन करु नयन नीर भरु देखहु न भेल पहु ओरा।
एकहि नगर बसि पहु भेल पर वस कइसे पुरत मन मोरा॥
पहु सँग कामिनि बहुत सोहागिनि चन्द्र निकट जइसे तारा।
भनइ विद्यापति सुनु बरजौवति अपन हृदय धरु सारा॥

नारीहृदय की दीनता, उसका अनन्य भाव तथा अपने प्रिय के लिए मिलन-व्याकुलता की उक्त गीत में श्रेष्ठ व्यंजना हुई है।

नीचे के पद में प्रेम की तल्लीनता का जो चित्रण है, उसे पढ़कर कौन भक्तहृदय गद्गद न हो जायगा? कृष्ण के विरह में पागल होकर राधा स्वयं अपने को कृष्णरूप समझ लेती है। राधा की विरह-व्यथा कितनी गहरी है—

माधव, अपरुब तोहर सिनेह!
अपने विरह अपन तनु जरजर जिवइत भेलि संदेह॥
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि॥
राधा सयँ जब पुनतहि माधव माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत बाढ़त विरह क बाधा॥

सखी के पूछने पर प्रेमोन्मत्त प्रेमिका कहती है—

सखि, कि पुछसि अनुभव मोय।
से हो पिरित अनुराग बखानिए तिलतिल नूतन होय॥
जनम अवधि हम रूप निहारब नयन न तिरपित भेल।
से हो मधु बोल स्रवनहि सूनल स्रुतिपथ परस न भेल॥

मधुर-भाव से भजन करनेवाले भक्तों ने यदि विद्यापति की पदावली को वैष्णव-साहित्य के अंतर्गत मानकर अपनी भक्ति-भावना का प्रकाशन किया, तो आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि उसमें वे समस्त गुण मौजूद हैं जो मधुरा रति में आवश्यक होते हैं। यही कारण है कि चैतन्य महाप्रभु और उनके अनुयायी विद्यापति के पदों को गाकर तन्मय हो जाते थे। राधा-कृष्ण-भक्ति के प्रवाह में केवल बंग-प्रान्त की जनता ही ग़ोते नहीं लगाती थी, वल्कि समस्त उत्तर भारत में यह प्रवाह फैलकर जनता के शुष्क जीवन में प्रेम और भक्ति का मधुर रस भरने लगा। सम्भव है कि विद्यापति की 'पदावली' बङ्गाली वैष्णवों के द्वारा वृन्दावन भी पहुँची हो, और उसने सूरदास आदि परवर्ती वैष्णव-कवियों को प्रभावित किया हो।

(आ) कृष्ण-काव्य का विश्लेषण

कृष्णभक्त कवियों में सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की ही प्रधानता है। इनमें भी माधुर्य-भाव विशेष रूप से अपनाया गया है। भक्ति के उत्कर्षापकर्ष के विचार से माधुर्यभाव की भक्ति श्रेष्ठतम समझी जाती है, क्योंकि पति-पत्नी के बीच जितना घनिष्ठ संयोग हो सकता है उतना किन्हीं अन्य सम्बन्धियों के बीच में नहीं। सख्य और वात्सल्य भाव में भी इष्टदेव के प्रति श्रद्धा और आदर की भावना न होने कारण, उसके साथ पूरी वेतकल्लुफ़ी होने के कारण, संपर्क में काफ़ी निकटता रहती है। इस निकटता के ही कारण समस्त कृष्ण-काव्य में हम आचार और विधि-निषेध के प्रति उदासीनता पाते हैं, वल्कि प्रेम के समक्ष उसकी काफ़ी विगर्हणा की गई है। राम-

काव्य और कृष्ण-काव्य में यही भारी अंतर है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि कृष्णभक्ति में दुराचार और अनीति का समर्थन किया गया है, या उसमें बुराई नहीं समझी गई। वास्तव में बात यह है कि कृष्ण-भक्त कवियों का दृष्टिकोण स्वीकारात्मक है, नकारात्मक नहीं। उन्होंने क्या करना चाहिए इस बात पर ज़ोर दिया है, न कि क्या न करना चाहिए इस बात पर। संयम और नियम का प्रत्याख्यान वहीं पर किया गया है, जहाँ यह डर मालूम हुआ कि संयम और नियम प्रेम-पूर्ण भक्ति का स्थान ग्रहण कर लेंगे। संयम और नियम साधन हो सकते हैं, साध्य नहीं। यदि साधन पर ज़ोर दिया जाने लगेगा, तो वही साध्य का स्थान ग्रहण करके असली साध्य को दृष्टि से ओझल कर देगा।

संयम-नियम का मार्ग न केवल शुष्क और नीरस है, बल्कि कठिन और दुरूह भी है; विशेषकर उन लोगों के लिए जिन्होंने योग-साधना से कोई परिचय नहीं प्राप्त किया है। गोपियाँ कहती हैं:—

उलटी रीति तिहारी ऊधो सुनो सो ऐसी को है।
अल्प वयस अबला अहीर सठ तिनहिं योग कत सोहै॥
कच खुवि आँधर काजर कानी नकटी पहरे बेसरि।
मुंडली पटिया पारि सँवारे कोढ़ी लावै केसरि॥
बहिरी पति सौं बात करै तौ तैसोइ उत्तर पावै।
सो गति होय सबै ताकी जो ग्वारिनि योग सिखावै॥

इसके विपरीत प्रेम का मार्ग कितना सरल है; और उसमें कितना स्वाभाविक आकर्षण है —

जब तें सुंदर बदन निहार्‌यो।
ता दिन ते मधुकर मन अटक्यो बहुत करी निकरै न निकार्‌यो॥
मात पिता पति बन्धु सजन जन तिनहूँ को कहिबो सिर धार्‌यो।
रही न लोकलाज मुख निरखत दुसह क्रोध फीको करि डार्‌यो॥
ह्वैबो होय सो होय करम बस अब जी को सब सोच निवार्‌यो।
दासी सूरदास परमानँद भलो पोच अपनो न विचार्‌यो॥

संयम का मार्ग इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्तियों का निषेध करता है और मन को ऊर्ध्वगामी बनाकर उसे मानवीय प्रकृति के ऊपर ले जाना चाहता है। इसके विरुद्ध प्रेम का मार्ग इन्द्रियों की सहज वृत्तियों को प्रोत्साहन देकर, उन्हें उभाड़कर, उन्हें कृष्ण-प्रेम में लगाना चाहता है। निषेध का मार्ग कठिन इसलिए है कि न जाने कब मनुष्य का स्वभाव उसकी कर्त्तव्यबुद्धि पर अधिकार करके उसे सन्मार्ग से डिगा दे। परन्तु प्रेम के मार्ग में ऐसा कोई भय नहीं है, क्योंकि जिसने एक बार आँखों से कृष्ण के रूप को देख लिया है, उसकी इन्द्रियों की वृत्ति किसी दूसरी ओर नहीं जा सकती। गोपियाँ कहती हैं—

नाहिन न रह्यो मन में ठौर।
नंदनंदन अछत नाहिन आनिये उर और।

सगुण भक्तिमार्ग के लिए यह अत्यंत स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य है कि इन्द्रियों की वृत्ति को पूर्ण स्वतंत्रता दी जाय। कृष्ण के रूप में ही इतना आकर्षण है कि वह बरबस इन्द्रियों को अपनी ओर खींच लेगा। इसी लिए सगुणमतवादी वैष्णवों ने संयम-नियम की अपने भक्ति-मार्ग में कोई सत्ता स्वीकार नहीं की। यहाँ इन्द्रियों को रोकने का प्रश्न

ही नहीं है, उन्हें केवल उस रूप-राशि, उस आकर्षण से परिचय मात्र करा देना है, जो स्वयं एक बार संपर्क में आने के बाद उन्हें कभी दूसरी ओर न मुड़ने देगा।

इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्तियों को तभी पूर्ण स्वतंत्रता मिल सकती है जब पारस्परिक सम्बन्ध में किसी प्रकार का पर्दा न हो। जहाँ श्रद्धा और आदर तथा गौरव की भावना की दीवार खड़ी हो, वहाँ तो मन भी अपनी पूरी बात नहीं कह सकता, चाहे वह कितनी ही निर्दोष और पवित्र क्यों न हो। उस दशा में इन्द्रियों को दबाकर ही रखना पड़ता है। कृष्ण-भक्त वैष्णवों ने इस दीवार को तोड़ दिया है और वे या तो अपने बाल-कृष्ण को पालने में झुलाते हुए, गोद में खिलाते हुए, गौओं के पीछे दौड़ाकर चिढ़ाते हुए, या उनके साथ खेलते हुए, यमुनातट पर गोपियों के साथ उनके विहार में आनंद-क्रीड़ा करते हुए, या उनके साथ वृंदावन के कुंजों में रस-केलि करते हुए उनके प्रति हृदय के उमड़ते हुए प्रेम को व्यक्त करते हैं। उनकी आँखें कृष्ण की छवि को देखकर और किसी ओर नहीं जा सकतीं; उनके कान मुरली-ध्वनि सुनकर और कुछ नहीं सुन सकते; उनके अधर कृष्ण की अधर-सुधा का पान करके और सब फीका समझते हैं और उनका मन नंदनंदन में इतना तल्लीन हो गया है कि और कुछ सोच ही नहीं सकता। भगवान् के सगुण रूप की कल्पना का तात्पर्य ही यह है कि उन इन्द्रियों को सात्त्विक भोजन दिया जाय, जो साधना-पथ में सदा बाधक बनती हैं। भक्ति के दृष्टि-कोण से विधि-निषेधवाली फिलासफी व्यर्थ है; भक्ति में उसका कोई स्थान नहीं। भक्ति के पूर्ण विकसित रूप के दर्शन हमें कृष्णभक्त वैष्णवों में ही मिलते हैं।

जब तक नियमों का, आचार का, दुराव बना रहा, तब तक प्रेम कैसा ? कबीर कहते हैं, 'एकमेक ह्वै सेज न सोया, तब तक कैसा नेह रे !'

उपर्युक्त कथन से यह न समझना चाहिए कि कृष्ण-भक्त कवियों ने आचार और मर्यादा के प्रति सर्वथा उपेक्षा दिखाई है। जहाँ तक आचार और मर्यादा कृष्ण के प्रति प्रेम बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं वहाँ तक कृष्ण-भक्त कवियों ने भी उनकी महत्ता स्वीकार करके उनका उपदेश किया है। विषयोन्मुख इन्द्रियों को कृष्णोन्मुख करने में जिस प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है, उसे प्रेम में मतवाली मीरा तक ने स्वीकार किया है। मन को समझाती हुई वे उसे कैसे प्रलोभन देती हैं—

मन रे ! परसि हरि के चरन।
सुभग सीतल कमल कोमल, त्रिविध-ज्वाला-हरन ॥

सूरदास ने तो मन के प्रबोध के लिए अनेक पद लिखे हैं। विषयानुगामी मन की भर्त्सना करते हुए वे कहते हैं—

मन, तोसों किती कही समुझाइ।
नन्दनँन्दन के चरन-कमल भजि, तजि पाखँड-चतुराइ ॥
सुख-संपति, दारा-सुत, हय-गय, झूठ सबै समुदाइ।
छनभंगुर यह सबै स्याम बिनु अन्त नाहिं सँग जाइ ॥

फिर भी कृष्ण-काव्य में ऐसे उदाहरण अपेक्षाकृत कम हैं। जैसा कि पहले कह चुके हैं, कृष्ण-भक्त कवि मन को रोकने की अपेक्षा मन को रिझाने का उपक्रम अधिक करते हैं। उनके इसी गुण के कारण उनकी भक्ति सरस और आकर्षक है तथा उनका काव्य आचारशास्त्र और धर्मोपदेश न होकर वास्तविक काव्य है।

(इ) कृष्णभक्ति के सम्प्रदाय

रामानुजाचार्य के अतिरिक्त शेष आचार्यों ने कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया था और उनके अनुयायियों में हिन्दी के अनेक प्रसिद्ध कवि हुए हैं। यद्यपि कालक्रम के अनुसार वल्लभाचार्य का समय सब आचार्यों के पीछे पड़ता है, फिर भी प्रचार की दृष्टि से उनका संप्रदाय सब से अधिक महत्त्व-पूर्ण सिद्ध हुआ। वे विष्णु-स्वामी के शिष्य थे; परन्तु उन्होंने पुष्टिमार्ग नाम से अपना एक नया सम्प्रदाय स्थापित किया। पुष्टिमार्गीय भक्तों में हिन्दी के अनेक प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। परन्तु पुष्टिमार्ग का सबसे प्रबल पोषक, प्रसारक और व्याख्याता हिन्दी का वह कवि था जो आज भी अपने क्षेत्र में अद्वितीय है; और जिसके कारण हिन्दी-साहित्य का नाम इतना उच्च है। वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने तो सूरदास को 'पुष्टमार्ग को जहाज' कहा ही था, साहित्य की आलोचना में भी उन्हें काव्यजगत् का सूर्य कहा गया है। 'सूर सूर तुलसी ससी' कहनेवाले को आज का आलोचक भले ही बुरा-भला कह डाले, किन्तु सूरदास की ख्याति और महत्ता पर उसका कोई बुरा असर न पड़ेगा। पुष्टिमार्ग के दूसरे प्रसद्धि कवि नन्ददासजी का नाम भी हिन्दी-साहित्य में अमर है। विट्ठलनाथजी ने पुष्टिमार्गीय भक्त-कवियों में से आठ को चुनकर अष्टछाप की स्थापना की थी। सूरदास और नन्ददास के अतिरिक्त शेष छः कवियों ने भी व्रज-माधुरी के भाण्डार में बड़ा योग दिया है। इनके अलावा पुष्टिमार्ग के अनुयायियों में 'रसखानि' का नाम हिन्दी-साहित्य में अत्यंत आदर के साथ लिया जाता है।

मध्व और निम्बार्क स्वामी के अनुयायियों में भी हिन्दी के अनेक कवि हुए हैं। हितहरिवंश, हरीराम व्यास, ध्रुवदास मध्वाचार्य के अनुयायी तथा स्वामी हरिदास और श्रीभट्ट कवि निम्बार्क के अनुयायी थे। सूरदास मदनमोहन गौड़ीय संप्रदाय के और गदाधर भट्ट चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी थे। मीराबाई का किसी संप्रदाय-विशेष में दीक्षित होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता; परन्तु उनके ऊपर निम्बार्क मत का प्रभाव माना जा सकता है। हम इन सभी कवियों का परिचय नीचे देते हैं—

सूरदास

वैष्णव काव्य के विश्लेषण में हम सूरदास का कई स्थानों पर विस्तार के साथ उल्लेख कर चुके हैं। वास्तव में हिन्दी के वैष्णव-काव्य की लगभग समस्त विशेषताएँ सूरदास के काव्य में पाई जाती हैं। पीछे दिये हुए सूरसागर के पदों के उद्धरणों से यह बात पूर्णतया सिद्ध होती है। सूरदास की भक्ति सख्यभाव की मानी जाती है। परन्तु सूरसागर में न केवल सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की भक्ति के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं, बल्कि प्रथम स्कंध में दास्य और शांत भाव की भक्ति के भी अनेक पद हैं। इस दृष्टि से सूरदास न केवल कृष्णभक्तों के प्रतिनिधि हैं, बल्कि वे हिन्दी के समस्त वैष्णव ही नहीं, समस्त भक्ति-साहित्य का किसी अंश में प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। पुष्टिमार्ग और कृष्ण-भक्ति को लोकप्रिय बनाने में सूरदास के पदों ने कितना योग दिया है इसका अनुमान सहज में नहीं लगाया जा सकता। सूरदास ने अपनी भक्ति-भावना को प्रकाशित करने के लिए जिस माध्यम का सहारा

लिया वह सहज ही काव्य की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित करने के योग्य हो गया और उसने न केवल वैष्णव काव्य को वरन् हिन्दी के समस्त पुराने काव्य को एक आधार प्रदान किया; क्योंकि सूरदास के काव्य में हम वे सभी गुण पाते हैं जो हिन्दी के मध्यकालीन काव्य की विशेषताएँ हैं। इस दृष्टि से यहाँ पर सूरदास के काव्य का संक्षिप्त विश्लेषण दे देना आवश्यक होगा।

वल्लभाचार्य के द्वारा पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पहले सूरदास दैन्य-भाव से भगवान् की भक्ति करते थे। वल्लभाचार्य ने उनका 'घिघियाना' छुड़ाया और उन्हें भगवल्लीला-वर्णन करने की आज्ञा दी। तदनन्तर सूरदास ने कृष्ण-भगवान् की बाललीला और यौवन-लीला को अपने काव्य का विषय बनाया। बाल-लीला से सम्बन्ध रखनेवाले पदों में सूरदास की भक्ति का स्वरूप, वात्सल्य और सख्य है। कृष्ण के बाल-रूप पर रीझकर न केवल नन्द और यशोदा बल्कि उनके परिजन तथा पुरजन भी कृष्ण से सहज-स्नेह करने लगते हैं। यह स्नेह सूरदास ने कृष्ण की बाललीलाओं के वर्णन करने में बार बार व्यक्त किया है। प्रातःकाल यशोदा कृष्ण को जगाते हुए गाती हैं—

जागिए गुपाल लाल आनँदनिधि नंद बाल
यशुमति कहै बार-बार भोर भयो प्यारे।
नैन कमल से विशाल प्रीति बापिका मराल
मदन ललित वदन उपर कोटि वारि डारे।
उगत अरुन विगत सर्वरी ससांक किरन-
हीन दीन दीपक मलीन छीन दुति समूह तारे।

बालकृष्ण की छवि देखकर हृदय में जो उल्लास उदित होता है, उसका यह एक उदाहरण है। वात्सल्य को व्यक्त करने में सूरदास ने हृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को माध्यम बनाया है। माता के हृदय की आशङ्का कितने स्वाभाविक रूप में चित्रित हुई है :—

साँझ भई घर आवहु प्यारे।
दौरत कहाँ चोट लगिहै कहुँ पुनि खेलोगे होत सकारे।

कृष्ण के प्रेम में उन्मत्त ढीठ ग्वालिनों को ताड़ना देती हुई यशोदा कहती हैं :—

ग्वालिनी स्याम तनु देखि री आपु तन देखिए।
भीति जब होइ तब चित्र अवरेखिए॥
कहाँ मेरो कुँअर है पाँच ही बरस को देह अजहूँ पयपान माँगे।
कहाँ तू ढीठ योवन मद सुंदरी फिरति अठिलात गोपाल आगे।

यशोदा जब कृष्ण को दंड देती हैं, तब यही ग्वालिनें उन्हें लांछित करती हुई कहती हैं :—

यशुमति केहि यह सीख दई।
सुतहि बाँधि तू मथति मथानी ऐसी निठुर भई।

कृष्ण के प्रति यह वात्सल्य-भाव यशोदा और नन्द तथा वसुदेव और देवकी के हृदय में उस समय तक बना रहता है जब वे पूर्ण प्रौढ़ावस्था प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार गोपाल कृष्ण के सखा अन्त तक उनके प्रति वही भाव बनाये रखते हैं। कृष्ण के बालसखाओं का बराबरी का प्रेम गेंद के प्रसंग में बड़ी ख़ूबी के साथ प्रकट हुआ है :—

श्याम सखा को गेंद चलाई।
श्रीदामा मुरि अंग बचायो गेंद पर्‌यो कालीदह जाई॥
धाइ गह्यो तब फेंट स्याम की देहु न मेरो गेंद मँगाई।
और सखा जिनि मोको जानों मोसों जिनि तुम करौ ढिठाई॥
जान बूझि तुम गेंद गिरायो अब दीन्हे ही बनै कन्हाई।
सूर सखा सब हँसत परस्पर भक्ती करी हरि गेंद गिराई॥

फेंट छाँड़ि मेरी श्रीदामा।
काहे को तुम रारि बढ़ावत तनक बात के कामा॥
मेरो गेंद लेहु वा बदले बाँह गहत कत धाई।
छोटो बड़ो न जानत काहू करत बराबरि आई॥
हम काहे को तुमहि बराबरि बड़े नन्द के पूत।
सूर स्याम दीन्हे ही बनिहै बहुत कहावत धूत॥

श्याम के सखा न केवल उनकी क्रीड़ा के साथी हैं, बल्कि उनकी विलासकेलि में भी उनका साथ देते हैं। माखन-चोरी में, रासलीला में, दानलीला में सब जगह कृष्ण उनकी सहायता और प्रेम-पूर्ण सहानुभूति की याञ्चा करते हैं। मथुरा में बैठे हुए कृष्ण अपने बालसखाओं की याद करते हुए मर्मव्यथा के साथ कहते हैं:—

ऊधो मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
वृंदावन गोकुल तन आवत सघन तृणन की छाँई॥
प्रात समय माता यशुमति अरु नन्द देखि सुख पावत।
माखन रोटी दह्यो सजायो अतिहित साथ खवावत॥

गोपी ग्वाल बाल सँग खेलत सब दिन हँसत सिरात।
सूरदास धनि धनि ब्रजवासी जिनसौं हँसत ब्रजनाथ ॥

परन्तु ब्रजवासियों के मधुर-प्रेम का प्रवाह सूर के काव्य में इतना प्रबल है कि वह वात्सल्य और सख्य भावों का अतिक्रमण करके पाठकों को तन्मय कर देता है। जैसा कि पहले सङ्केत कर चुके हैं, सूरदास के कृष्ण अवस्थाभेद के अनुसार एक ही प्रकार के भक्तों के सामने भिन्न-भिन्न रूपों में नहीं आते; बल्कि इसके विपरीत जो उन्हें वात्सल्य-भाव से भजते हैं, उनके सामने वे महा विक्रम-सूचक कृत्यों को करते हुए भी शिशुवत् ही रहते हैं। कृष्ण ने राक्षसों का संहार किया, कालिय का दमन किया, महाभारत के नरसंहार का नाटक रचा, फिर भी यशोदा के सामने वे सुकुमार ही बने रहे। यशोदा ने उनके प्रति सदैव आशंका ही प्रकट की और उनके दुरूह कृत्यों पर आश्चर्य ही प्रकट किया, श्रद्धा या आदर-भाव नहीं। इसी प्रकार कृष्ण के सखा सदैव उनके प्रति सखाभाव ही प्रदर्शित करते रहे। भक्तों के सामने वे उनकी भक्ति के प्रतीक के रूप में आये हैं, एक विकासशील चरित्र के रूप में नहीं—यह बात गोपियों के मधुर-भाव के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है। शिशु कृष्ण के प्रति भी गोपियों का वही भाव था, जो युवा कृष्ण के प्रति। माखन-चोर कृष्ण उनकी मधुर-रति के आलंबन थे, न कि वात्सल्य के। देखिए—

ब्रज घर घर प्रगटी यह बात।
दधि माखन चोरी कै लै हरि ग्वालसखा सँग खात ॥
ब्रज-बनिता यह सुनि मन हरषीं सदन हमारे आवैं।
माखन खात अचानक पावैं भुज भरि उरहिं छुवावैं ॥

कृष्ण भी पाँच वर्ष की अवस्था से ही गोपियों के साथ शृंगार-क्रीड़ा करने लगे थे। एक गोपी अपना अनुभव बताती है :—

कहा कहौं हरि गुण तोसों।
सुनहु महरि अबही मेरे घर जे कीने मोसों॥
मैं दधि मथति आपने मंदिर गये तहाँ यह भाँति।
मोसों कह्यो बात सुनु मेरी मैं सुनि कै मुसकाति॥
बाँह पकरि चोली गहि फारी भरि लीन्हीं अँकवारी।
कहत न बनै सकुच की बातें देखौ हृदय उघारी॥

कृष्ण की इन शृंगार-चेष्टाओं का हाल सुनकर वात्सल्य भाव से भजनेवाली यशोदा हैरान हो जाती हैं। कभी वे कृष्ण को डाँटती हैं और कभी शिकायत करनेवाली गोपियों को गाली देती हैं। उनकी समझ में नहीं आता कि बालक कृष्ण इस प्रकार की, विदग्ध नायक जैसी, चेष्टाएँ कैसे कर सकता है। वे गोपियों से कहती हैं :—

झूठहि सुतहि लगावति खोरि।
मैं जानति उनके ढँग नीके बातें मिलवति जोरि॥
वे यौवन मद की सब माती कहाँ मेरो तनक कन्हाई।
आपुहि फोरि गागरी सिर ते उरहन लीन्हे आई॥

परन्तु बात वास्तव में यह है :—

करत अचगरी नंद महर को।
सखा लिये यमुना-तट बैठो निबहत नहिं सब लोग डहर को॥
कोउ खीझौ कोउ कितनो बरजौ युवतिन के मन ध्यान।
मन-क्रम-वचन स्यामसुंदर ते और न जानति आन॥

कृष्ण के प्रति गोपियों का यह भाव बराबर एक-सा बना रहता है। कृष्ण उनके सामने सदैव नायक के समान प्रकट होते हैं और उन्हें अपना अङ्ग-सङ्ग देकर उनके मधुर भाव को तृप्त करते हैं। गोपियों का प्रेम मधुर भाव की भक्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। परन्तु राधा और कृष्ण का प्रेम मधुर भाव की भक्ति नहीं समझनी चाहिए। उनके प्रेम का चित्रण तो उनकी लीला मात्र है। राधा और कृष्ण दोनों मिलकर ही भक्तों के इष्ट देव हैं। राधा और कृष्ण की मधुर-रति का स्पष्ट चित्रण करने के कारण ही सूरदास सख्य भाव के भक्त कहे जाते हैं।

यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि सूरदासजी ने राधा और कृष्ण के प्रेम का प्रसंग बिल्कुल स्वतंत्र ढंग से एक खण्ड-काव्य के रूप में लिखा है। भौंरा चकई खेलते हुए दोनों का यमुना-तट पर प्रथम मिलन, कृष्ण का ढिठाई भरा प्रश्न, 'नैन नैन मिलि पर्‌यो ठगोरी' के साथ प्रथम प्रेमोदय, राधा का यशोदा के यहाँ जाना, कृष्ण को गायें दुहने के लिए बुलाना, कृष्ण के हृदय में 'गाय दुहति अति ही रति बाढ़ी। एक धार दोहनि में डारत एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।' वाला प्रसंग, राधा का प्रेम-भुजंगम के द्वारा डसा जाना और कृष्ण का वैद्य बनकर उसका विष उतारना, राधा का अभिसार, राधाकृष्ण की वनकेलि, समागम, परिणाम, विहार, कृष्ण का दक्षिण नायकत्व और राधा का मान तथा अन्त में दोनों का मिलन, हिंडोर-झूलना आदि समस्त बातें सूरदास ने अत्यन्त ब्योरेवार और विशद रूप से वर्णन की हैं। शृंगार रस के अन्तर्गत जितने भी संचारी भाव हो सकते हैं, वे सब सूरदास ने अपने काव्य में चित्रित किये हैं। भावों की दृष्टि से वास्तव में सूरसागर एक महासागर है जिसके

सामने हिंदी का कोई भी काव्य अत्यन्त छिछला और हल्का मालूम पड़ेगा। शृंगार रस में सूरसागर की सम्पन्नता अप्रतिम है, बेजोड़ है। शृंगार का संयोगपक्ष लिखने में तो सूर ने कमाल किया ही है, उसका वियोगपक्ष और भी अधिक सम्पन्न एवं भावपूर्ण है। राधा और कृष्ण मधुर रति के आलम्बन हैं। उनकी प्रेम-क्रीड़ाओं को देखकर गोपियों के मन में आता है कि वे भी राधा के समान कृष्ण के एकान्त प्रेम की अधिकारिणी हों। राधा के प्रति उनके हृदय में ईर्ष्या नहीं है, वे कहती हैं :—

राधा परम निर्मल नारि।
कहति हौं मन कर्मना करि हृदय दुविधा टारि॥
स्याम कौं एक तुही जान्यो दुराचरनी और।

परन्तु फिर भी राधा के भाग्य की सराहना करती हुई वे चाहती अवश्य हैं कि उन्हें भी कृष्ण का उतना प्रेम नहीं तो उसका कुछ ही भाग मिल जाता :—

पुनि पुनि कहति हैं ब्रजनारि।
धन्य बड़भागिनी राधा तेरे वश गिरिधारि॥
धन्य नंदकुमार धनि तुम धन्य तेरी प्रीति।
धन्य तुम दोउ नवल जोरी कोक कला निजीति॥
हम विमुख तुम कृष्ण सङ्गिनि प्राण एक द्वै देह।
एक मन एक बुद्धि एक चित दुहुनि एक सनेह॥
एक छिनु बिनु तुमहिं देखे श्याम धरत न धीर।
मुरलि में तुव नाम पुनि पुनि कहत हैं बल बीर॥

प्रेमावतार कृष्ण गोपियों के परम भाव को स्वीकार करते हैं। स्वीकार ही नहीं, वे तो स्वयं उन्हें अपने प्रेम का दान कर चुके हैं। व्रज में उनका जन्म ही इसलिए हुआ था।

यद्यपि सूरदासजी ने श्रीमद्भागवत की कथा का अनुसरण करके ही कृष्णलीला का वर्णन किया है, फिर भी अनेक स्थलों पर उनकी उद्भावना सर्वथा मौलिक है। गोपियों के प्रसङ्ग में ही हम पाते हैं कि न केवल राधा की अवतारणा और उसका कृष्ण के साथ प्रेम सूरदास की मौलिक कल्पना है, बल्कि गोपियों के साथ कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं में भी सूरदास ने भागवत से बहुत अन्तर कर दिया है। भागवत में कृष्ण रासलीला से पहले गोपियों के साथ किसी तरह की प्रेम-क्रीड़ा नहीं करते, पर सूरदास ने आरम्भ से ही कृष्ण के प्रेम-प्रसङ्गों का चित्रण आरम्भ कर दिया है। गोपियों की प्रेम-लीला सर्वाङ्गपूर्ण है। परकीया-प्रेम का चरम विकास उसमें मिलता है। दक्षिण नायक कृष्ण की ललिता, सुषमा, चन्द्रावली आदि गोपियों के साथ गोप्य रति-क्रीड़ा, खण्डिता नायिकाओं की भर्त्सनाएँ, उनकी मान-मनुहार, अपराधी कृष्ण का आर्तभाव, पुनः रसकेलि आदि समस्त बातें सूरसागर में मौजूद हैं। और कृष्ण के वियोग में गोपियों की वेदना-व्यथा में तो मधुर-रति अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रकट हुई है। कृष्ण का प्रेम ऐन्द्रियिक वासनाओं की तृप्ति का साधन नहीं रहा, वहाँ उसने अन्तःकरण का स्थायी अनुराग बनकर गोपियों की समस्त इन्द्रिय-वृत्तियों को अन्तर्मुखी बना दिया है। श्याम की मधुर-मूर्त्ति उनके रोम-रोम में समा गई है:—

मन में रह्यो नाँहिन ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और॥
चलत चितवत द्योस जागत सपन सोवत राति।
हृदय ते वह मदन मूरति छिन न इत उत जाति॥

कृष्ण द्वारका चले जाते हैं, फिर भी गोपियों के मधुर प्रेम को नहीं भूलते। वे रुक्मिणी से कहते हैं—

रुक्मिणि मोहिं व्रज बिसरत नाहीं।
वा क्रीड़ा खेलत यमुना तट विमल कदम की छाहीं॥
गोपवधू की भुजा कंठ धरि विहरत कुंजन माहीं।

स्वयं कृष्ण गोपियों के विरह में व्याकुल हैं। भगवान् के अनुग्रह की यह पराकाष्ठा है और गोपियों के अतिरिक्त इस अनुग्रह का अधिकारी और कोई नहीं हो सका। अतः गोपियाँ ही पुष्टिमार्ग के अनुसार आदर्श भक्त हैं, क्योंकि भगवान् ने अपनी पुष्टि, अपना अनुग्रह, उन्हीं को सबसे अधिक प्रदान किया है।

सूरदास के प्रेम-चित्रणों को पढ़ते हुए हम भूल जाते हैं कि हम भगवान् के चरित्र का अवलोकन कर रहे हैं। यद्यपि सूरदास ने हरि, भगवान्, आदि विशेषणों का यत्र-तत्र प्रचुर प्रयोग किया है, फिर भी उनके वर्णन इतने अधिक मानवीय और स्वाभाविक हैं कि हमें कृष्ण के देवत्व का ध्यान भी नहीं रहता। सूरदास के सांप्रदायिक दृष्टिकोण को न समझनेवाले आलोचक इसे सूरदास की कमज़ोरी कहते हैं और काव्य के विचार से उनकी सराहना करते हुए भी धर्म के नाम पर उन्हें लांछित करते हैं। परन्तु वास्तव में भगवान् के देवत्व को भुला देना ही सूरदास

की भक्ति के दृष्टिकोण से उनकी सबसे बड़ी सफलता है। यदि भगवान् के देवत्व का ध्यान बना रहे, तो उनके साथ न तो मैत्री की जा सकती है, न उन्हें प्यार-दुलार किया सकता है और न उनके प्रति परम-भाव का प्रदर्शन किया जा सकता है। क्योंकि वैसी दशा में उनका ऐश्वर्य सदैव हमारे सामने रहेगा। फिर भी स्थान स्थान पर सूरदास स्मरण दिलाते जाते हैं कि कृष्ण अवतारी पुरुष ही नहीं, साक्षात् पूर्ण ब्रह्म हैं और उनकी समस्त लीलाएँ भक्तों के हित ही हैं। दान-लीला के अवसर पर जब गोपियाँ कृष्ण के पराक्रम का प्रत्याख्यान करती हैं तब उनके भ्रम को दूर करने के लिए कृष्ण स्वयं कहते हैं :—

यह कमरी कमरी करि जानति।
जाके जितनी बुद्धि हृदय में सो तितनी अनुमानति॥
या कमरी के एक रोम पर वारौं चीर नील पाटंबर।
सो कमरी तुम निंदति गोपी तीनि लोक आडंबर॥

परन्तु गोपियाँ 'कमरी' की महत्ता को नहीं समझतीं और वे व्यङ्ग के साथ कहती हैं—'तुम कमरी के ओढ़नहारे पीतांबर नहिं छाजत, सूरदास कारे तनु ऊपर कारी कमरी भ्राजत।' साथ ही वे कृष्ण की बाल-लीलाओं की आलोचना करके उनका मज़ाक़ उड़ाती हैं। इस पर कृष्ण कहते हैं :—

को माता को पिता हमारे।
कब जनमत हमको तुम देख्यो हँसी लगत सुनि बात तुम्हारे॥
कब माखन चोरी करि खायो कब बाँधे महतारी।
दुहत कौन की गैया चारत बात कही यह भारी॥

आगे के पद में कृष्ण अपनी लीला का रहस्य स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं :—

भक्त हेतु अवतार धर्‌यो।
कर्म धर्म के वस मैं नाहीं योग जग्य मन मैं न कर्‌यो ॥
दीन गुहारि सुनौ श्रवणनि भरि गर्व वचन सुनि हृदय जर्‌यो।
भाव अधीन रहौं सबही के और न काहू नेक डरौं ॥
ब्रह्मा कीट आदि लौं व्यापक सब को सुख दै दुखहि हरौं।
सूर स्याम तब कहि प्रगट ही जहाँ भाव तहँ ते न टरौं ॥

परन्तु मधुर-प्रेम की भक्ति की यह विशेषता है कि गोपियों पर इस स्पष्ट कथन का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वे कहती हैं :—

कान्ह कहाँ की बात चलावत।
स्वर्ग पताल एक करि राखौ युवतिन को कहि कहा बतावत ॥
जो लायक तौ अपने घर को वन भीतर डरपावत।
कहा दान गोरस को है है सबै न लेहु देखावत ॥

गोपियाँ कृष्ण की बातों पर विश्वास नहीं करतीं, और इस नीरस प्रसंग को छोड़कर पुनः 'दान' की ओर उनका ध्यान आकर्षित करती हैं।

पुष्टिमार्ग की भक्ति के इसी आदर्श के कारण सूरदास की भक्ति की अभिव्यंजना सुंदर काव्य का रूप धारण कर सकी।

सूरदास के अन्तर्जगत् से थोड़ा-सा परिचय पा लेने के बाद, उनके जीवन का वृत्त जानने की उत्सुकता होना स्वाभाविक है। परन्तु खेद का विषय है कि इतना समय बीत जाने पर भी हम न तो उनके जन्म-

समय के विषय में और न जन्मस्थान के विषय में कुछ भी निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं।

'सूरसागरसारावली' में सूरदास ने लिखा है—

गुरु-परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।

'सूरसागर' इस समय तक समाप्त हो चुका होगा। 'साहित्य-लहरी' में उसका रचनाकाल दिया गया है—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।

दसन गौरीनन्द को लिखि सुबल सम्वत पेख॥

इसके अनुसार १६०७ संवत् निकलता है। सूरसागरसारावली और साहित्यलहरी दोनों लगभग समकालीन रचनाएँ मानी जा सकती हैं; और इस हिसाब से सूरदास का जन्म-संवत् १५४० के आसपास माना जाना चाहिए। अगर सूरदासजी का जीवनकाल ८० वर्ष का मानें तो उनकी मृत्यु संवत् १६२० विक्रमी के लगभग मानी जा सकती है।

'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में लिखा है—'सो गऊघाट ऊपर सूरदास जी को स्थल हुतो सो सूरदास जो स्वामी हैं आप सेवक करते।' गऊघाट आगरे और मथुरा के बीचोबीच है। वल्लभाचार्य के द्वारा पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद, सूरदास श्रीनाथजी के मंदिर में सेवा के लिए नियत किये गये और तब से वे बराबर गोवर्द्धन पर रहने लगे। स्वयं सूरदास ने कृष्णजन्म के समय लिखा था—

'नंद जू' मेरें मन आनंद भयौ, मैं गोवर्धन तैं आयो।
तुम्हरें पुत्र भयौ, हौं सुनि कै, अति आतुर उठि धायौ॥

× × ×

जब हँसिकै मोहन कछु बोलै, तिहिं सुनि कै घर जाऊँ।
हौं तौ तेरे घर कौ ढाढ़ी, सूरदास मोहिं नाऊँ॥

मृत्यु के समय ये पारसोली ग्राम चले गये थे। 'वार्त्ता' में लिखा है—'तब श्री गुसाईं जी जान्यो जो भगवदिच्छा ते अवसान समें हैं ताते सूरदासजी पारसोली गये हैं।'

सूरदास के तीन ग्रंथ मिलते हैं—सूरसागर, सूरसागरसारावली, और साहित्यलहरी। इनके अतिरिक्त ब्याहलो, नलदमन और हरिवंश टीका भी इनके ग्रन्थ बताये जाते हैं। परन्तु ये अप्रामाणिक हैं। 'सारावली' और साहित्यलहरी, असल में सूरसागर से ही निकाली गई हैं; अतः सूरदास का सारा काव्य सूरसागर में ही संगृहीत है। है भी यह संग्रह-ग्रन्थ ही। वार्त्ता में आता है—'और सूरदास जी ने सहस्रावधि पद कीये हैं ताको सागर कहिये सो सब जगत में प्रसिद्ध भये।' सूरसागर में भागवत की कथा के अतिरिक्त अनेक लीलाएँ खण्डकाव्यों के रूप में संगृहीत हैं। कहा जाता है कि सूरदास ने सवा लाख पद लिखे थे, पर यह बात अत्युक्तिपूर्ण है।

नंददास

सूरदास के बाद पुष्टि मार्गीय अष्टछाप के कवियों में नन्ददास का नाम आता है। भक्ति के लिए सबसे बड़ी योग्यता—भावुकता नन्ददासजी में प्रचुर मात्रा में थी। ये बड़े प्रेमी जीव थे। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' के अनुसार इन्हें नाच-तमाशा देखने का बड़ा शौक़ का। एक बार इन्होंने द्वारका क यात्रा की, पर

रास्ता भूल जाने से कुरुक्षेत्र के पास 'सीनन्द' गाँव में जा पहुँचे। वहाँ एक खत्री के यहाँ भिक्षाटन करते हुए पहुँचे और उसकी सुंदरी स्त्री पर मोहित हो गये। दिन-दिन भर वे उसी के द्वार पर बैठे रहते और जब उस स्त्री का मुख देख लेते तब लौटते। स्त्री के परिजन बहुत चिंतित हुए और उन्होंने गाँव छोड़ने का निश्चय कर लिया। वे लोग वैष्णव थे अतः गोकुल की ओर चल पड़े। नन्ददासजी को जब ख़बर हुई तो वे भी उनके पीछे-पीछे चल पड़े। परन्तु यमुना नदी के किनारे पहुँच-कर नन्ददास को यमुना के उस पार ही रह जाना पड़ा। क्योंकि उस खत्री ने मल्लाहों से मना कर दिया कि इस ब्राह्मण को पार न उतारें। गोकुल जाकर जब उन लोगों ने गुसाईंजी से भेंट की, तब गुसाईंजी ने पूछा कि उस ब्राह्मण को नदी पार क्यों छोड़ आये। बाद में गुसाईंजी ने नन्ददास को बुला भेजा। नन्ददासजी ने आकर 'साक्षात् कोटि कंदर्प लावण्यपूर्ण पुरुषोत्तम' के दर्शन किये; और उनका मन मोह से छुटकर साक्षात् गुसाईं जी के चरणारविंद में लग गया। स्नान के उपरान्त गुसाईंजी ने श्री नवनीतप्रियाजी के सन्निधान नाम निवेदन कराये। आगे की कथा वार्ता के ही शब्दों में सुनिए—"तब नन्ददासजी महाप्रसाद लेवे बैठे। तब महाप्रसाद लेत ही नन्ददास कुं देहानुसंधान रह्यो नहीं। तब पातर पर बैठेई रहे। भगवल्लीला में मन मग्न होय गयो। अनेक लीलान को अनुभव होवै लग्यो। भरे घर के चोर की सी नाईं मोहित भये। ऐसें करते सवारो होय गयो। कछु सुद्धि रही नहीं। तब गुसाईंजी पधार के कान में कही के नन्ददास जी उठो दर्शन करो। × × तब नन्ददासजी ने उठके श्री गुसाईंजी के दर्शन करके ये पद गायो।

'प्रात समय श्री वल्लभ सुत को उठतहिं रसना लीजे नाम' × × × श्री नवनीत प्रिया जी के दर्शन करत मात्र ही भगवल्लीला की स्फूर्त्ति भई। जब पालने को पद गायो 'बाल गोपाल ललन कों मोद भरी यशुमति दुलरावत'। × ×

सो नन्ददास जी के ऊपर श्री गुसाईं जी ने ऐसी कृपा करी तब सब ठिकानेन सों विनको मन खींच के श्री प्रभुन में लगाय दीनो। × × सो वे खत्री की बहू नन्ददास जी कुं रास्ता में पाँच सात बार नित्य देखती हती परन्तु नन्ददास जी वाकी आडी देखते ही न हते। ऐसें श्री गुसाईं जी की कृपा तें ऐसो मन को निरोध होय गयो हतो। × ×"

उक्त प्रसंग से न केवल नन्ददास जी के चरित्र पर, बल्कि पुष्टिमार्गीय वैष्णव-भक्ति पर भी, विशेष प्रकाश पड़ता है। भक्त के लिए अपने प्रेमी मन को पार्थिव आकर्षणों से हटाकर भगवान् की रूप-सम्पत्ति के आकर्षण की तरफ़ मोड़ देना भर अभीष्ट है। और बिना भगवान् की कृपा के ऐसा नहीं हो सकता। पुष्टिमार्ग के गुरु ही साक्षात् भगवान् के स्वरूप हैं। उनका कृपा-कटाक्ष प्राप्त हो जाने पर मनुष्य का मन संसार में नहीं लगता। यही नन्ददास जी के लिए हुआ। 'जिनकूँ संसार ऐसो फीको लागतो जैसें मनुष्य कूँ उल्टी देख के बुरो लगे। जासूं वे और ठिकाने जाते नाहीं हुते और श्री महाप्रभु जी और श्री गुसाईं जी और श्री गिरिराज जी और श्री यमुना जी और श्री व्रजभूमी इनको स्वरूप विचार्‍यो करते। प्रभुन के दूसरे अवतारन पर्यन्त कोई ठिकाने विनको मन नहीं लागतो हुतो। जासूँ विननें श्री स्वामिनी जी के स्वरूप वर्णन में कह्यो है 'चलिये कुँवर कार सखी भेष कीजे।' या पद में

कह्यो है शिव मोहे जिन वे मोहनी जे कोई। प्यारी के पायन आज आन परे सोई।

नंददास जी की टेक इतनी दृढ़ थी कि जब तुलसीदास जी स्वयं काशी से व्रज में आये और अपने साथ ले जाने का आग्रह करके कहने लगे कि ग्राम रुचे तो अयोध्या में रहो, वन रुचे तो दण्डकारण्य में रहो, पुरी रुचे तो काशी में रहो, पर्वत रुचे तो चित्रकूट में रहो; तब नंददास जी ने उत्तर दिया :—

जो गिरि रुचे तो बसो श्री गोवर्द्धन, गाम रुचे बसो तो नन्दगाम।
नगर रुचे तो बसो श्री मधुपुरी, सोभासागर अति अभिराम ॥१॥
सरिता रुचे तो बसो श्री यमुना तट, सकल मनोरथ पूरण काम।
नंददास कानन रुचे तो बसो भूमि श्री वृंदावन धाम ॥२॥

वार्त्ता की ऐतिहासिक प्रामाणिकता संदिग्ध है; क्योंकि विद्वानों ने उसे गोकुलनाथकृत नहीं माना है। परन्तु उक्त अवतरण से नन्ददास के भक्त हृदय का चित्र स्पष्ट रूप से हमारे सामने आ जाता है; और इसमें हमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। नन्ददासजी परम भावुक भगवदीय थे। साथ ही ये एक उच्च कोटि के कवि भी थे। इनकी कविता में भाव और कला दोनों का जैसा संयोग हुआ है वैसा संयोग अन्यत्र कठिनता से मिलेगा। 'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया' तो प्रसिद्ध ही है। वास्तव में भाषा का जैसा सुसंस्कृत निखरा हुआ रूप इनके 'रासपंचाध्यायी' में मिलता है वैसा समस्त कृष्णकाव्य में ढूँढ़ने से बहुत थोड़ी जगह मिलेगा। इनके विषय में भक्त कवि ध्रुवदासजी ने कितना सच कहा है—

नंददास जो कछु कह्यो राग रंग में पागि।
अच्छर सास सनेहमय सुनत होत हिय जागि॥
रसिक-दसा अद्भुत हुती, करत कवित्त सुढार।
बात प्रेम की सुनत ही छुटत प्रेम-जल धार॥
रसिक बावरो सों फिरै, खोजत हित की बात।
आछे रस के बचन सुनि बेगि विवस ह्वै जात॥

नंददासजी के जीवन-वृत्त के संबंध में उक्त वार्त्ता से जितना ज्ञान प्राप्त होता है, उससे अधिक जानने का कोई साधन नहीं है।

इधर हाल में 'वार्ता' और भक्तमाल के आधार पर यह सिद्ध करने की कोशिश की जाने लगी है कि नन्ददास जी तुलसीदासजी के भाई और सोरों ज़िला एटा के पास रायपुर गाँव के निवासी थे। तुलसीदासजी की पत्नी के नाम से कुछ नवीन रचनाएँ भी प्रकाश में आई हैं। परन्तु अभी इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

नन्ददासजी के समय के विषय में केवल इतना कहा जा सकता है कि ये सूरदासजी के समकालीन थे और इनका कविताकाल संवत १६२५ वि० माना जा सकता है। नन्ददासजी ने निम्न पुस्तकें लिखी हैं:—

भागवत दशमस्कन्ध, रुक्मिणीमङ्गल, सिद्धान्तपञ्चाध्यायी, रूपमञ्जरी, मानमञ्जरी, विरहमञ्जरी, नामचिन्तामणिमाला, अनेकार्थनाममाला (कोश), दानलीला, मानलीला, अनेकार्थमञ्जरी, ज्ञानमञ्जरी, श्यामसगाई, भँवरगीत, रासपञ्चाध्यायी और सुदामाचरित। हितो-

पदेश तथा गद्य में नासिकेतपुराण और इनके लिखे बताये जाते हैं। दो सौ से अधिक फुटकर पद भी मिलते हैं। परन्तु अभी तक इनकी केवल रासपञ्चाध्यायी, भँवरगीत, अनेकार्थमञ्जरी और अनेकार्थनाममाला ही छपी हैं। इनमें पहली दो पुस्तकें ही विशेष प्रसिद्ध हैं।

इन्होंने भागवत के रासपञ्चाध्यायी का सुंदर और साहित्यिक भाषा में सरस अनुवाद किया है, जो एकदम मौलिक कृति जान पड़ता है। उदाहरण लेकर देखिए—

चलत अधिक छवि फवित श्रवन मनि कुंडल झलकैं।
संकित लोचन चपल ललित जुत विलुलित अलकैं॥
तैसिय पिय की मुरली जु-रली अधर सुधारस।
सुनि निज धर्म न तजै तरुनि त्रिभुवन में को अस?

× × ×

सुंदर पिय कौ बदन निरखि कैं को नहिं भूलै।
रूप-सरोवर-माँझ सरस अंबुज जनु फूलै॥
कुटिल अलक मुख कमल मनों मधुकर मतवारे।
तिनमें मिलि गये चपल नैन पिय मीन हमारे॥
चितवनि मोहन मंत्र भौंह जनु मन्मथ-फाँसी।
निपट ठगौरी आहि मंद मुसुकनि मृदु हाँसी॥
अधर-सुधा के लोभ भईं हम दासि तुम्हारी।
जो लुब्धी पदकमल चंचला कमला नारी॥
जो न देउ यह अधरामृत तौ, सुन सुंदर हरि!
करिहैं यह तन भस्म विरह-पावक में गिरि परि॥

पुनि पद पिय के पाय बहुरि धरिहैं सुंदर अँग।
निधरक ह्वै यह अधरामृत पैहैं फिरिहैं सँग॥
सुनि गोपिन के बचन प्रेम-आँच सी लगी जिय।
पिघलि चल्यौ नवनीत मीत सुंदर मोहन-हिय॥

भँवरगीत में नन्ददासजी ने उद्धव और गोपियों के संवाद में वचन-वक्रता के साथ साथ पाण्डित्य-पूर्ण तर्क और भक्ति-पूर्ण सरल विश्वासों की दृढ़ता से उद्धव के योग की खिल्ली उड़ाई है। यद्यपि सूरदास के काव्य की सरसता और माधुर्य नन्ददास के भँवरगीत में नहीं मिल सकता, फिर भी भँवरगीत एक सम्यक् ग्रन्थ है और पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों के अनुसार भक्ति का स्वरूप समझने में इससे काफ़ी मदद मिल सकती है।

कृष्णदास अधिकारी

ये भी अष्टछाप के वैष्णव जाति के थे। शूद्र होते हुए भी इन्हें श्रीनाथजी के मन्दिर का अधिकारी नियुक्त किया गया था। 'वार्त्ता' के अनुसार इनके चरित्र की दो बातें बड़े मार्के की हैं—एक तो ये बड़े अक्खड़ थे। गोवर्द्धन से बङ्गालियों को बलपूर्वक निकालकर श्रीनाथजी के मन्दिर से उनका प्रभाव मिटाने में इन्होंने अपने अक्खड़पन का परिचय दिया। दूसरे ये प्रेमी जीव भी थे। आगरे गये और एक वेश्या का नाच देखकर उस पर रीझ गये और उसे श्रीनाथजी की सेवा के लिए ले आये। इनके अक्खड़पन का दूसरा प्रमाण यह है कि इन्होंने गोसाईं विट्ठलनाथजी से अप्रसन्न होकर एक बार उनका श्रीनाथजी के यहाँ आना-जाना तक बन्द कर दिया था। बाद में श्रीनाथजी की

प्रेरणा से ही इन्हें अपनी भूल मालूम हुई और इन्होंने क्षमा-याचना करके गोसाईंजी को प्रसन्न कर लिया। एक गङ्गाबाई नामक स्त्री से उनका बड़ा प्रेम था; यह बात श्रीनाथजी भी नहीं पसंद करते थे। गोसाईंजी से विमुख रहने के कारण इन्हें प्रेतयोनि मिली थी, बाद में दया करके गोसाईंजी ने इनका उद्धार कर दिया। मालूम होता है कि ये खरी प्रकृति के भक्त थे और दरिद्र होने के कारण सभ्य समाज के शिष्टाचार से कम परिचित थे। फिर भी भक्तों में इनका नाम आदर के साथ लिया जाता है। यह भक्ति की ही महिमा है। सूरदास जी के साथ ये कविता में होड़ लगाते थे। एक बार सूरदासजी ने कहा कि तुम्हारी कविता में मेरी छाया है। इस पर इन्होंने एक पद स्वतन्त्र रूप से बनाया, जिसका चौथा चरण स्वयं श्रीनाथजी ने पूरा किया था। वह पद देखकर सूरदास जी बड़े प्रसन्न हुए। इनका समय सं० १५६० से १६६५ तक माना जा सकता है। जुगलमानचरित्र एक श्रृंगाररस के ग्रन्थ के अलावा इनके कुछ फुटकर पद भी मिलते हैं। कविता के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं :—

मो मन गिरिधरछवि पर अटक्यो।
ललित त्रिभंगी अंगन परि चलि गयौ तहाँई ठटक्यो॥
सजल स्याम घन चरण नील ह्वै फिर चित अनत न आनत भटक्यो।
कृष्णदास कियो प्राण न्योछावरि यह तन जग सिर पटक्यो॥

इसी पद को गाते हुए अन्तिम चरण को गाकर उक्त वेश्या ने शरीर छोड़ दिया था और वह श्रीनाथजी में समा गई थी।

रास-सरस गोविंद करत विहार।
सूर-सुता के पुलिन रम्य महँ फूले कुंद मँदार।

अद्भुत सतदल विकसित कोमल, मुकुलित, कुमुद कल्हार ।
मलय पवन बह सारदि पूरनचंद्र मधुप भंकार ॥
सुघर राय संगीत कलानिधि मोहन नंदकुमार ।
व्रजभामिनि सँग प्रमुदित नाचत तन चरचित घनसार ॥
उभै स्वरूप सुभगता-सीवाँ कोककला-सुख-सार ।
कृष्णदास, स्वामी गिरिधर पिय पहिरे रस में हार ॥

परमानन्ददास

अष्टछाप में इनकी भी गणना की गई है। ये श्रीवल्लभाचार्यजी के शिष्य थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में इनकी भक्तिभावना तथा आचार्य जी की इन पर अनुपम कृपा के कई वृत्तान्त दिये हैं। पहले विरह का भाव इनकी कविता में सबसे प्रधान रहता था, पर आचार्य जी की प्रेरणा से इन्होंने कृष्ण की बाललीला को काव्यमय चित्रण करके उस दिशा में भी अपनी योग्यता और भावुकता का परिचय दिया। परमानन्ददासजी कन्नौज के रहनेवाले ब्राह्मण थे। आचार्य जी अडेल से व्रज जाते हुए इनके यहाँ ठहरे थे। इनका समय संवत् १६०६ के लगभग माना जाता है। 'परमानन्ददासजी का पद', 'दानलीला' और 'ध्रुवचरित' नामक इनके लिखे ग्रंथ मिले हैं। इनकी कविता सुनकर आचार्य जी विभोर हो जाते थे। इनकी भक्ति सख्यभाव की थी। श्रीनाथजी का विरह इन्हें असह्य था। नीचे के पदों में हृदय की अनुभूति का कैसा सुष्ठु चित्रण है —

व्रज के विरही लोग विचारे ।
बिनु गोपाल ठगे से ठाढ़े, अति दुर्बलतन हारे ॥

मात जसोदा पंथ निहारत निरखत साँझ-सकारे।
जो कोइ कान्ह कान्ह कहि बोलत अँखियन बदन पनारे॥
यह मथुरा काजर की रेखा जे निकसे ते कारे।
परमानँद स्वामी विनु ऐसे ज्यों चंदा विनु तारे॥

कौन रसिक है इन बातन को।
नंद नंदन बिनु कासों कहिए, सुनि री सखी, मेरे दुखिया मन को॥
कहाँ वे जमुना-पुलिन मनोहर कहाँ वह चंद सरदि रातन कौ।
कहाँ वे मंद-सुगंध-अमल रस कहाँ वे षट्पद जलजातन कौ॥
कहाँ वे सेज पौढ़िवो बन कौ फूल बिछौना मृदु पातन कौ।
कहाँ वे दरस-परस परमानँद कोमल तन कोमल गातन कौ॥

विरह के इन पदों को सुनकर आचार्यजी ने कहा—'कछू बाललीला वर्णन करि'। तब परमानन्द स्वामी ने कहा,—'जो महाराज में कछू समभत नाहीं।' श्रीमहाप्रभु ने कहा, 'जो स्नान करि आउ हम तोकों समभावेंगे।' जब आचार्यजी ने परमानन्दजी को अनुक्रमणिका सुनाई तब सब लीला की स्फूर्ति हुई और उन्होंने बाललीला के पद गाये—

माई री कमलनैन स्यामसुंदर झूलत हैं पालना।
बाललीला गावत सब गोकुल की ललना॥
अरुण तरुण कमल नख मनि जस जोती।
कुंचित कच मकराकृत लटकत गजमोती।
अँगूठा गहि कमल पान मेलत मुख माही।
अपनो प्रतिबिंब देखि पुनि पुनि मुसिकाही॥

जसुमति के पुन्य पुंज बारंबार लाले ।
परमानंद स्वामी गोपाल सुत सनेह पाले ॥
जसौधा तेरे भाग्य की कही न जाय ।
जो मूरति ब्रह्मादिक दुर्लभ सो प्रगटे हैं आय ॥
शिव नारद सनकादिक महामुनि मिलि वे करत उपाय ।
ते नंदलाल धूरि धूसर वपु रहत गोद लिपटाय ॥
रतन जड़ित पौढ़ाय पालने वदन देखि मुसिकाय ।
झूलौ लाल, जाउँ बलिहारी परमानँद जसु गाय ॥

आचार्य जी इन पदों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। वे नित्य इनके पदों को सुनते थे, अतः इन्होंने भिन्न भिन्न अवसरों पर नित्य कीर्तन के अनेक पद बनाये हैं।

कुंभनदास

ये भी आचार्य श्री महाप्रभु के शिष्य, परम भागवत और अष्टछाप के कवि थे। इनके गायन की प्रसिद्धि चारों ओर थी। बादशाह ने इन्हें बुलाया। बादशाह का सम्मान अस्वीकार करके ये पैदल ही फ़तहपुर सीकरी पहुँचे और बादशाह के आग्रह पर इन्होंने नीचे लिखा पद गाया—

संतन को कहा सीकरी सों काम ?
आवत जात पनहियाँ टूटीं बिसरि गयो हरि-नाम ॥
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम ।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम ॥

देशाधिपति यह सुनकर बहुत कुढ़े; परन्तु उन्होंने इनकी भक्ति-भावना की प्रशंसा करके कहा--'जो इनको काहू बात को लालच होय तो मेरो जस गावें इनकों तो अपने परमेश्वर सों साँचो सनेह है'। गोवर्द्धन लौटकर इन्होंने सन्तोष की साँस ली और श्रीनाथजी का दर्शन करके ये पद गाये—

नैन भरि देखौ नंदकुमार।
ता दिन ते सब भूलि गयौ हौं बिसर्‌यो पन पनवार॥
बिन देखे हौं बिकल भयो हौं अंग अंग सब हारि।
ताते सुधि है साँवरी मूरति की लोचन भरि भरि बारि॥
रूप रास परिमित नहीं मानों कैसें मिले लो कन्हाई।
कुंभनदास प्रभू गोवर्धन धर मिलियै बहुरि री माई॥

हिलगिन कठिन है या मन की।
जाके लिए देखि मेरी सजनी लाज गई सब तन की॥
धर्म जाउ अरु लोग हँसौ सब अरु गावो कुल गारी।
सो क्यों रहे ताहि बिन देखे जो जाको हितकारी॥

ऐसे पद सुनकर श्रीनाथजी बहुत प्रसन्न हुए और कहा—'यह मो बिन रहत नाहीं'।

इनके निर्लोभ और निर्लिप्त भाव का उदाहरण 'वार्त्ता' में दिया है। एक बार राजा मानसिंह श्रीनाथजी के दर्शन को आये। कुंभनदास जी के कीर्तन पर प्रसन्न होकर उन्होंने इन्हें अशर्फ़ियों की थैली भेंट करनी चाही। परन्तु इन्होंने उसे तुरन्त अस्वीकार कर दिया। जब मानसिंह ने पूछा कि आप क्या चाहते हैं, तो इन्होंने उत्तर दिया कि

मैं चाहता हूँ कि आप चले जाइए और यहाँ कभी न आइए। कुंभनदासजी की भक्ति देखकर राजा दङ्ग रह गये। श्रीनाथजी भी कुंभनदासजी के भाव पर बहुत प्रसन्न हुए।

कुंभनदासजी सूरदासजी के लगभग समकालीन थे। इनका रचा कोई ग्रन्थ नहीं मिला। फुटकर पद मिलते हैं। उदाहरण लीजिए। 'स्वामिनीजी' की प्रशंसा में इनका एक पद यह है—

कुमरि राधिका के तुव सकल सौभाग्य
की या बदन ऊपर कोटिस चंद्र वारौं।
खंजन कुरग सत कोटि जंघन ऊपर
सिंह सत कोटि उपरि न्योछावरि उतारौं॥
मत्त सत कोटि चालि पर कुंभ सत
कोटि इन कुचन परि वारि डारौं।
कीर दश कोटि दशनन पर काहि न वारौं
नाग सत कोटि वैनी ऊपर कपोत सत कोटि कर जुगल पर वारने
नाहिन कोउ लोक उपमा जु धारौं।
दास कुंभन स्वामिनी सु नखसिख अति अद्भुत सुठान कहा लगि समारौं।
लाल गिरधर कहत मोहि तोहि लौजो वह रूप छिन छिन निहारौं॥

अष्टछाप के अन्य कवि

अष्टछाप के शेष तीन भक्त कवि चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविन्दस्वामी थे। **चतुर्भुजदास** जी कुंभनदास जी के पुत्र और गोसाईं विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। इनके लिखे तीन ग्रन्थों का पता

लगा है—द्वादश यश, भक्तिप्रताप और हित जू को मङ्गल। इनका एक पद नीचे दिया जाता है :—

जसोदा ! कहा कहौं हौं बात ?
तुम्हरे सुत के करतब मो पै कहत कहे नहिं जात ॥
भाजन फोरि, ढारि सब गोरस लै माखन दधि खात।
जौ बरजौं तौ आँखि दिखावै, रंचहु नाहिं सकात ॥
और अटपटी कहँ लौं बरनौं छुवत पानि सों गात।
दास चतुर्भुज गिरिधर गुन हौं कहति कहति सकुचात।

छीतस्वामी जी विठ्ठलनाथ जी के शिष्य और मथुरा के चौबे थे। पहले ये बड़े सम्पन्न बीरबल के पुरोहित और उद्दण्ड प्रकृति के पण्डे थे, परन्तु—

भई अब गिरिधर सों पहचान।
कपट रूप छलबे आयो पुरुषोत्तम नहिं जान ॥
छोटो बड़ो कछू नहि जान्यो छाय रह्यो अज्ञान।
छीत स्वामि देखत अपनायौ श्री विठ्ठल कृपानिधान ॥

इसके बाद इन्होंने बीरबल को म्लेच्छ कहकर ठुकरा दिया। बीरबल ने अकबर से शिकायत की, परन्तु अकबर ने बीरबल को उल्टा शर्मिन्दा कर दिया। कहते हैं, अकबर स्वयं भेस बदलकर कीर्त्तन के समय इनका गान सुनने गया था।

गोविन्द स्वामी

भी गोसाईं विठ्ठलनाथजी के शिष्य और श्रीनाथजी के परम भक्त थे। इनके भी गायन की ख्याति बहुत थी, और स्वयं अकबर बादशाह भेस

बदलकर गोकुल में इनका कीर्त्तन सुनने आया था। परन्तु इनकी भक्ति की टेक देखिए कि जिस पद पर बादशाह ने 'वाह' 'वाह' की वह पद इन्होंने बाद में कभी नहीं गाया, क्योंकि वह झूठा हो गया था। भक्तों के लिए बादशाह का सम्मान ठुकरा देना आसान बात थी, पर व्यवहार में यह उस समय कैसे हो सकता था, इसे सोचकर आश्चर्य होता है। इनका एक पद देखिए :—

प्रात समय उठि जसुमति जननी गिरधर सुत को उबटि न्हवावति।
करि सिंगार बसन भूषन सजि फूलन रचि रचि पाग बनावति॥
छुटे बंद बागे अति सोभित बिच बिच चोव अरगजा लावति।
सूथन लाल फूंदना सोभित आजु कि छबि कछु कहति न आवति॥
विविध कुसुम की माला उर धरि श्री कर मुरलि बेंत गहावति।
लै दरपन देखे श्रीमुख को गोविंद प्रभु चरननि सिर नावति॥

हितहरिवंश और राधावल्लभी सम्प्रदाय

हितहरिवंशजी मध्वाचार्यजी के अनुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे। बाद में जब श्रीराधिका जी ने इन्हें स्वप्न में मंत्र दिया, तब इन्होंने राधा-वल्लभी नामक एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की; और संवत् १५८२ में वृन्दावन में श्री राधावल्लभ जी की मूर्त्ति स्थापित की। इनके मत में राधाकृष्ण की युगल मूर्त्ति की भक्ति का आदर्श है। सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार इन्होंने राधाकृष्ण की विशुद्ध शृंगार-केलि का सरस वर्णन किया है। काव्य की दृष्टि से इनके वर्णन उच्चकोटि के हैं। राधा के दिव्य-शृंगार रूप का मोहक वर्णन देखिए—

ब्रज-नव तरुनि-कदंब-मुकुट-मनि स्यामा आजु बनी।
नख सिख लौं अँग-अंग-माधुरी मोहे स्याम धनी॥
यों राजत कबरी गूथित कच कनक कंज-बदनी।
चिकुर चंद्रकनि बीच अरध बिधु मानों ग्रसत फनी॥
सौभग रस सिर स्रवत पनारी पिय सीमंत ठनी।
भ्रकुटि काम कोदंड नैनसर, कज्जल रेख अनी॥
भाल तिलक ताटंक गण्ड पर नासा जलज मनी।
दसनकुंद सरसाधर पल्लव पीतम-मन समनी॥
चिबुक मध्य अति चारु सहज सखि साँवल बिंदु कनी।
प्रीतम-प्रानरतन संपुट कुच कंचुकि कसित तनी॥
भुज-मृनाल बल हरत बलय जुत परस सरस स्रुवनी।
स्याम सीस तरु मन भिड़वारी रची रुचिर रवनी॥
नाभि गँभीर मीन मोहन मन खेलन कौं ह्रदनी।
कृस कटि पृथु नितंब किंकिनि बृत कदलि खंभ जघनी॥
पद-अंबुज जावत-जुत भूषन प्रीतम-उर-अवनी।
नव नव भाव विलोम भाम दृग विहरति वर करनी॥
जै श्री हितहरिवंश प्रसंसित स्यामा बिरुद धनी।
गावत सुवननि सुनत सुखाकर बिस्व-दुरित-दवनी॥

राधावल्लभी संप्रदाय में राधा का महत्त्व कृष्ण से भी अधिक माना जाता है; क्योंकि कृष्ण स्वयं राधा के बस में हैं। हितहरिवंश जी कहते हैं—

हरि रसना राधा-राधा रट।
अति अधीन आतुर जद्यपि प्रिय कहियतु हैं नट तापै नागर॥

संभ्रम द्रुम परिरंभन कुंभन ढूँढ़त अनुदिन कालिंदी तट।
विलपत, हँसत, विषादत स्वेदित तनु संचित, अँसुवन बंसीवट॥
अंगराग परिधान बसन में लागत है ताते जु पीत पट।
जैश्री हितहरिवंस प्रसंसित स्यामा दै प्यारी कंचन घट॥

जूथिका जुगल रूप मंजरी रसाल।
बिथकित अलि मधु माधवी गुलाल॥
चंपक बकुल कुल विविध सरोज।
केतकी मेदिनी मद मुदित मनोज॥
रोचक रुचिर बहै त्रिविध समीर
मुकुलित नृत नदति पिक कीर॥
पावन पुलिन घन मंजुल निकुंज।
किसलय सैन रचित सुख पुंज॥
मंजीर मुरज डफ मुरली मृदंग।
बाजत उपंग बीना वर मुख चंग॥

ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्ट विदित हो गया होगा कि श्री हितहरिवंशजी एक उच्च कोटि के कवि थे। भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से उन्हें प्रथम श्रेणी के कवियों में स्थान मिलना चाहिए। खेद है कि अभी तक हितहरिवंशजी का हिन्दी-साहित्यिकों ने उचित आदर नहीं किया है। सिद्धान्त-सम्बन्धी इनकी फुटकर कविता के अतिरिक्त इनके पदों का संग्रह 'हितचौरासी' नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि उसमें ८४ पद हैं। हितहरिवंशजी का रचनाकाल संवत् १६०० से १६४० वि० तक माना जाता है। विद्वानों ने इनका जन्म संवत् १५५६ माना है, यद्यपि राधावल्लभी

संप्रदाय के भक्त गोपालप्रसाद शर्मा ने संवत् १५३० में इनका जन्म लिखा है। इनका जन्मस्थान मथुरा के निकट बादगाँव और माता-पिता का नाम ताराबाई और केशवदास मिश्र था।

हितहरिवंशजी के संप्रदाय ने काफ़ी उन्नति की और उसमें कई भक्त हिन्दी के अच्छे कवि हो गये हैं। ओरछा के राजगुरु श्री हरिराम व्यास इन्हीं के शिष्य थे। 'हित चौरासी' पर कई टीकाएँ हुई हैं, एक प्रेमदास की लिखी हुई ५०० पृष्ठों की टीका और दूसरी लोकनाथ द्वारा लिखी हुई टीका। हितहरिवंश जी की स्तुति और प्रशंसा में वृंदावनदास जी ने 'हितजी की सहस्रनामावली' तथा श्री चतुर्भुजदास जी ने 'हित जू को मङ्गल' लिखा है। हित परमानन्ददास जी और व्रजजीवनदासजी ने भी इनकी प्रशंसा में पद लिखे हैं।

नीचे राधावल्लभी सम्प्रदाय के कुछ भक्त कवियों का परिचय दिया जाता है।

हरिराम व्यास

'व्यास' नाम से प्रसिद्ध ओरछा के श्री मधुरकर शाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यास पहले गौड़ीय संप्रदाय के वैष्णव थे। संस्कृत के विद्वान् तथा शास्त्रार्थी पंडित होने के कारण इन्होंने वृंदावन में जाकर हितहरिवंश जी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। हितहरिवंश जी ने कहा—

> यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सचु पायौ।
> जहँ तहँ विपति जार जुवती ज्यों प्रगट पिंगला गायौ॥

इसे सुनते ही हरिराम जी पर इतना प्रभाव पड़ा कि ये सारा पाण्डित्य भूलकर राधावल्लभ के भक्त बन गये। व्रजभूमि से इन्हें इतना अनुराग

हो गया कि महाराज मधुकरशाह के स्वयं बुलाने आने पर भी ये वृन्दावन छोड़कर ओरछा नहीं गये और इन्होंने मर्म पीड़ा के साथ महाराज से कहा—

वृंदावन के वृक्ष हमारे मात पिता सुत बंध।
गुरु गोविंद साधु गति मति सुख फल फूलनि को गंध॥
इनहिं पीठ दै अनत डीठि करि सो अंधन में अंध।
व्यास, इनहिं छोड़ै औ छुड़ावै ताको परियो कंध॥

व्यासजी का रचनाकाल संवत् १६२० माना जाता है। इनके बनाये लगभग ८०० पद मिले हैं, जिनमें साम्प्रदायिक सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने-वाले और राधाकृष्ण के विहार के पद हैं। इनकी कविता उच्चकोटि की है।

ध्रुवदास

इनके जीवनवृत्त के विषय में केवल इतना ज्ञात है कि ये स्वप्न में श्री हितहरिवंशजी के शिष्य हुए थे। इनका जन्म लगभग संवत् १६५० और गोलोकवास संवत् १७४० के लगभग माना जाता है। छोटे-बड़े सब मिलाकर इनके चालीस ग्रन्थ मिलते हैं। इनकी शृंगार रस की रचनाएँ बड़ी मधुर होती हैं।

चाचा हितवृन्दावनदास

चाचाजी पुष्करक्षेत्र के निवासी गौड़ ब्राह्मण थे। इनका जन्म संवत् १७६५ में हुआ था। राधावल्लभीय गोस्वामी हितरूप के ये शिष्य थे। अपने समय के गुसाईंजी के पिता के गुरुभ्राता होने के कारण लोग इन्हें चाचाजी कहते थे। इनका कविताकाल संवत् १८०० से १८४४ तक माना जाता है। महाराज नागरीदास के भाई बहादुरसिंह

इनके आश्रयदाता थे। पर राजकुल में झगड़ा होने पर ये वृन्दावन आ बसे और मृत्यु पर्यन्त कहीं नहीं गये। इनके रचे हुए २०००० के लगभग पद और छन्द मिले हैं, पर कहते हैं इन्होंने एक लाख पद बनाये थे। राधा-कृष्ण से सम्बन्ध रखनेवाले नखशिख, अष्टयाम, समय-प्रबन्ध, छन्दलीला आदि विषयों पर इन्होंने कविता की है। भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से इनकी कविता अनूठी हुई है।

श्री हठीजी

राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रसिद्ध कवियों में हठीजी का नाम अन्तिम है; परन्तु काव्यकला के विचार से इनका स्थान काफ़ी ऊँचा रखना पड़ेगा। 'राधासुधा-शतक' नामक इनका एक ग्रन्थ मिलता है, जिसमें ११ दोहे और १०३ कवित्त-सवैये हैं। यह ग्रन्थ संवत् १८३७ वि० में समाप्त हुआ था। भक्ति-भावना के साथ काव्यालंकारों की बहार इनकी कविता में देखी जाती है।

निम्बार्कमतानुयायी कवि

स्वामी हरिदास

निम्बार्क मत के सिद्धान्तों की शरण लेकर इन्होंने 'टट्टी संप्रदाय' नामक एक नवीन संप्रदाय की स्थापना की थी। इनका जन्म-संवत् अनिश्चित है; पर अकबर के गद्दी पर बैठने के समय तक इनकी ख्याति हो चुकी थी, ऐसा अनुमान होता है। इनका कविता-काल संवत् १६०० से १६१७ तक माना गया है। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे, या सारस्वत इस विषय में मतभेद है। जो हो, ये परम वैष्णव और राधाकृष्ण के भक्त

थे, साथ ही एक प्रख्यात गायनाचार्य, यहाँ तक कि स्वयं तानसेन इनका गुरुवत् सम्मान करते थे। एक बार स्वयं अकबर साधु का वेष धारण करके तानसेन के साथ इनका गान सुनने आया था। यद्यपि इनकी कविता भाषा और कला के दृष्टिकोण से अत्यंत साधारण कोटि की है; पर भाव और संगीत की दृष्टि से उसका स्थान उच्च है।

श्री भट्टजी

निम्बार्कसम्प्रदाय के प्रसिद्ध पण्डित केशव कश्मीरी के भट्टजी प्रधान शिष्य थे। निम्बार्क-मत की इन्होंने बड़ी सेवा की। इनका जन्म १५९५ वि० के लगभग अनुमान किया जाता है; तथा कविता-काल १६२५ के आसपास। 'युगल शतक' नाम से इनके १०० पदों का संग्रह तथा एक 'आदिवानी' नाम की पुस्तक मिलती है। यद्यपि काव्य-कला की दृष्टि से इनकी कविता साधारण है, फिर भी भक्ति का चमत्कार उसमें पर्याप्त है।

भगवत रसिक

टट्टी सम्प्रदाय के आठवें और अन्तिम आचार्य श्री ललितमोहनीदासजी के ये शिष्य थे; पर इन्होंने गद्दी का अधिकार नहीं लिया और निःस्पृह भाव से ये सम्प्रदाय की सेवा करते हुए अपने भक्तिभाव का प्रकाशन करते रहे। ये दिन-रात भगवद्भजन में मस्त रहते थे। इनका जन्म-समय संवत् १७९५ के लगभग माना जाता है। इन्होंने बहुत से पद, कवित्त, कुण्डलियाँ और छप्पय बनाये, जिनमें वैराग्य और शृंगार दोनों अपने निखरे हुए रूप में व्यक्त हुए हैं। कुण्डलियों में नीतिवाक्य और सूक्तियों की प्रधानता है।

श्री चैतन्य-अनुयायी कवि

गदाधर भट्ट

श्री चैतन्य महाप्रभु के समसामयिक श्री गदाधर भट्ट दक्षिणी ब्राह्मण थे। इनके जन्मस्थान तथा जन्म-काल का ठीक पता नहीं मिलता। पर यह निश्चय है कि संवत् १५८४ वि० के पहले इन्होंने महाप्रभु से दीक्षा ले ली होगी, क्योंकि यह तिथि महाप्रभु की निधन-तिथि है। जीव गोस्वामी की प्रेरणा से ये वृन्दावन में जाकर महाप्रभु के शिष्य हुए थे। ये संस्कृत के भी विद्वान् थे, अतः संस्कृत में कविता लिखने के अतिरिक्त इनकी भाषा कविता में भी संस्कृत-मिश्रित शैली पाई जाती है। पद-विन्यास की दृष्टि से इनकी रचना का सौष्ठव अनूठा है। इनका रचा कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। फुटकर पद पाये जाते हैं।

सूरदास मदनमोहन

मदनमोहनजी के परम भक्त श्री सूरध्वजजी अकबर के राज्य में संडीले के अमीन थे। ये श्री चैतन्य के गौड़ीय सम्प्रदाय के नैष्टिक वैष्णव और जाति के ब्राह्मण थे। इष्टदेव के नाम के साथ मिलकर इनका नाम इतना प्रसिद्ध हो गया कि असली नाम लुप्त सा हो गया। इनकी साधु-सेवा प्रसिद्ध है। एक बार सरकारी ख़ज़ाने का तेरह लाख रुपया साधु-सत्कार में ख़र्च हो गया। इन्होंने ख़ज़ाने में ईंट-पत्थर भरकर राजधानी को भेज दिया; और लिख भेजा—

तेरह लाख संडीले आये, सब साधुन मिलि गटके।
सूरदास मदनमोहन आधी रात सटके।

ये ऐसे सटके कि वृन्दावन में जाकर रुके और जब बादशाह ने इन्हें प्रसन्नता-पूर्वक बुलाया तो कहला दिया कि अमीनी से श्री वृन्दावन की गलियाँ झाड़ना हज़ार गुना अच्छा है। इनका रचा कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। केवल कुछ फुटकर पद मिले हैं।

अन्य वैष्णव कवि

किसी सम्प्रदाय-विशेष से सम्बन्ध न रखनेवाले वैष्णव कवियों का विवरण नीचे दिया जाता है—

मीराबाई

वैष्णव भक्तों और कवियों में ही नहीं, प्रत्युत भारत के इतिहास में मीराबाई का नाम इतना प्रसिद्ध हो चुका है कि प्रत्येक पढ़ा-लिखा आदमी उनसे कुछ न कुछ परिचय अवश्य रखता है। इनके सम्बन्ध की कथाएँ जनसमाज की सम्पत्ति हो गई हैं। कृष्ण की भक्ति में इन्होंने सर्वस्व का त्याग कर दिया था। उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराज की पत्नी होते हुए भी इन्होंने राजसुख पर लात मारकर वैरागी साधुओं के साथ सांसारिक कष्ट के दिन बिताने का निश्चय कर लिया। परन्तु उस कष्ट के बदले में इन्हें कितना बड़ा सुख मिला था यह तो इनका हृदय ही जान सकता है, या थोड़ा बहुत इनके सरस पदों को सुननेवाले सहृदय जन, क्योंकि कभी कभी भक्तिभाव के उन्मेष में इनका आनंद-रस छलक आता था।

इनके पदों की शब्दावली से विदित होता है कि इन पर सन्त-भक्तों का प्रभाव अधिक था। कहा जाता है कि रैदास इनके गुरु थे। परन्तु सन्तों के निर्गुण को इन्होंने कभी नहीं अपनाया; क्योंकि 'गिरधर नागर'

से इनकी पहचान बचपन से ही हो चुकी थी। मीरा की दृढ़ भक्ति को देखकर यही कहना पड़ता है कि इन्हें स्वयं 'गिरधर नागर' से भक्ति की प्रेरणा मिली थी। गिरधर नागर को मीरा अपना पति मानती थीं। उन्हीं के विरह में वे जीवन भर तड़पती रहीं। माधुर्य भाव की भक्ति के अन्तर्गत विप्रलंभ का भाव मीरा में जितना गहरा है उतना किसी अन्य कवि में न मिलेगा। यद्यपि सूरदास की भाँति इन्होंने संचारी भावों की बहुलता और विविधता के सहारे अपनी भावानुभूति को विस्तार नहीं दिया है, फिर भी उसकी तीव्रता और गम्भीरता तक सूर की भी पहुँच नहीं हो पाई है। उदाहरण देखिए—

घड़ी एक नहिं आवड़े, तुम दरसण बिन मोय।
तुम हो मेरे प्राणजी, कारूँ जीवण होय।
धान न भावे नींद न आवे, विरह सतावे मोय।
घायल सी घूमत फिरूँ रे मेटो दरद न जाणे कोय।
दिवस तो खाय गँवाइयो रे रैण गमाई सोय।
प्राण गमायो झूरताँ रे नैण गमाया रोय।
जो मैं ऐसी जाणती रे प्रीत कियाँ दुख होय।
नगर ढिंढोरा फेरती रे प्रीत करो मत कोय।
पंथ निहारूँ डगर बुहारूँ उभी मारग जोय।
मीरां के प्रभु कब रे मिलोगे तुम मिलियाँ सुख होय॥

मीरा को अपने भक्ति-पथ पर अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा था। राजकुल की मर्यादा को ठुकराना आसान नहीं था; पर मीरा की दृढ़ता देखिए :—

वरजी मैं काहू की नाहिं रहूँ।
सुनौ री सखी तुम चेतन होइ कै मन की बात कहूँ ॥
साध सँगति करि हरि सुख लीजै जग सूँ दूरि रहूँ।
तन धन मेरो सबही जावो भलि मेरो सीस लहूँ ॥
मन मेरो लागो सुमिरण सेती सबका मैं बोल सहूँ।
मीरां के प्रभु हरि अविनासी सतगुर सरण गहूँ ॥

मीराबाई का जन्म संवत् १५७३ वि० में चोकड़ी नामक एक गाँव में हुआ था। इनके पिता मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह, पितामह राव दूदा जी और प्रपितामह राव जोधाजी थे, जिन्होंने जोधपुर बसाया था। विवाह के थोड़े दिनों बाद ही इनके पति भोजराज जी का देहान्त हो गया। कृष्ण-भक्ति से विरत करने के लिए इनके परिजनों ने उल्टे सीधे अनेक उपाय किये। यहाँ तक कि विष तक देना चाहा; पर इनका नियम पक्का था, और ये दिनोंदिन उसमें दृढ़तर होती गईं। इनके पदों की भाषा प्रधानतया राजस्थानी है। ब्रजभाषा में भी इनके पद मिलते हैं। कुछ पद तो पूर्वी भाषा में है। उनकी प्रामाणिकता में संदेह है। इनके लिखे चार ग्रन्थ बताये जाते हैं—नरसी का मायरा, गीतगोविंद टीका, रागगोविंद, राग सोरठ के पद। इनकी कृष्ण-भक्ति पर निम्बार्क मत और चैतन्य प्रभु का प्रभाव माना जा सकता है।

रसखान

प्रसिद्ध प्रेमी भक्त रसखान जाति के पठान मुसलमान थे। गोसाईं विट्ठलनाथ से दीक्षा लेकर ये पुष्टिमार्ग में सम्मिलित हुए। इससे इनका कविता-काल संवत् १६४० अनुमान किया जा सकता है; क्योंकि गोसाईं

विठ्ठलनाथ जी का देहान्त संवत् १६४३ में हुआ था। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में इनका वृत्तांत दिया गया है। रसखान ने कवित्त-सवैयों में अपनी भक्ति का प्रकाश किया है। परिमाण में इनकी रचना बहुत कम है। अब तक इनकी दो छोटी छोटी पुस्तकें छपी हैं—प्रेम वाटिका, और सुजान-रसखान। फिर भी इनकी ख्याति बहुत अधिक है। इनकी भाषा शुद्ध, निखरी हुई, परिमार्जित और मुहाविरेदार है; और इनके भाव प्रेम और भक्ति से सराबोर। थोड़े से उदाहरण लीजिए—

मानुस हौं तो वही रसखान बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तो कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।
पावन हौं तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरंदर धारन।
जौ खग हों तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन॥
या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि के सुख नंद की गाय चराय बिसारौं।
नैनन सों रसखान कबौं व्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हू कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

घनानन्द

रसखान के समान ये भी व्रजभाषा के सिद्धहस्त कवि और प्रेमी भावुक भक्त थे। पहले ये सुजान नामक एक वेश्या से प्रेम करते थे और उसके सामने अपने स्वामी दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह की भी, जिनके यहाँ ये मीर मुंशी थे, परवाह न करते थे। एक बार इनकी गाने की ख्याति को सुनकर बादशाह ने इन्हें दरबार में बुला भेजा। परन्तु इन्होंने उस समय तक गाना नहीं गाया जब तक कि सुजान वेश्या ने आकर

स्वयं नहीं कहा, और वह भी सुजान की तरफ़ मुँह तथा बादशाह की तरफ़ पीठ करके। बादशाह ने इन्हें दरबार से निकाल दिया। सुजान से भी इन्होंने साथ चलने की प्रार्थना की; पर उसकी अस्वीकृति ने हिन्दी को एक ऐसा वैष्णव कवि दे दिया जिस पर उसे आज दिन तक गर्व है। ये वृंदावन आकर विरक्त हो गये और निम्बार्क मत में दीक्षित होकर कृष्ण-प्रेम में अपने सरस सवैयों और कवित्तों का निर्माण करने लगे। श्रीकृष्ण को ही ये सुजान कहने लगे और उनके वियोग में उन्मत्त होकर गाने लगे। घनानन्द जी का समय संवत् १७४६ से १७६६ तक माना जाता है। इनकी मृत्यु नादिरशाह के सिपाहियों द्वारा हुई थी। मरते समय अपने तकिया पर इन्होंने निम्न कवित्त अपने ख़ून से लिखा था—

बहुत दिनानि की अवधि आसपास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान कों।
कहि कहि आवत छबीले मनभावन कों
गहि राखति ही दै दै सनमान कों।
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कैं
अब ना फिरत 'घन आनँद' निदान कों।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान कों॥

घनानन्द जी के कृपाकांड निबन्ध, रसकेलिवल्ली, सुजानसागर और बानी नामक ग्रन्थ मिले हैं। भाषा का सौष्ठव जितना घनानन्द में मिलता है, उतना किसी अन्य कवि में न मिलेगा। उदाहरण देखिए —

परकारज देह कौं धारे फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबहीं विधि सज्जनता सरसौ।
घन आनँद जीवन-दायक हौ कछु मेरियौ पीर हियें परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन, मो अँसुवानि कौं लै बरसौ॥

धुनि पूरि रहै नित काननि में अजकौं उपराजिबोई सी करै।
मन मोहन गोहन जोहन के अभिलाख समाजिबोई सी करै।
घन आनँद तीखियै ताननि सों सरसे सुर साजिबोई सी करै।
कित तें यह बैरिनि बाँसुरिया बिन बाजेई बाजिबोई सी करै॥

नागरीदास

भक्तवर नागरीदास कृष्णगढ़ के महाराज सावन्तसिंह जी का उपनाम था। गृह-कलह के कारण ये राज-सम्पदा छोड़कर वृन्दावन आकर रहने लगे और अपना सारा समय भक्ति में बिताने लगे। इनके साथ इनकी उपपत्नी 'बणी-ठणी' जी भी रहती थीं, जो कविता भी करती थीं। इन्होंने निम्बार्क मत की दीक्षा ली थी। इनका कविता-काल संवत् १७८० से १८१९ तक माना गया है। इनके ७१ ग्रन्थों के नाम मिलते हैं। परन्तु ये ग्रन्थ बहुत छोटे-छोटे हैं और कुल मिलाकर ५ या ७ अच्छे आकार की पुस्तकों में आ सकते हैं। इनकी कविता परिमाण में अधिक है, पर काव्य-गुण उसमें साधारण ही है।

अलबेली अलि

श्री विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के महात्मा वंशी अलिजी के शिष्य श्री अलबेली अलि जी विक्रम की अठारहवीं सदी में हुए थे। हिन्दी में 'समय प्रबन्ध पदावली' के अतिरिक्त इनका संस्कृत में 'श्रीस्तोत्र' मिलता है।

सहचरिशरण

विक्रम की उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में टट्टी सम्प्रदाय के अनुयायी सहचरिशरण ने 'ललित-प्रकाश' और 'सरस-मंजावली' नामक कविता के ग्रन्थों की रचना की। इनकी कविता बड़ी सरस और हृदयग्राहिणी है। इनकी कविता में कई भाषाओं के नमूने मिलते हैं।

नारायण स्वामी

अपने जन्मस्थान रावलपिंडी से आकर नारायण स्वामी वृन्दावन में लाला बाबू के मंदिर के दफ़्तर में नौकर हो गये थे। इनका जन्म-संवत् १८८५-८६ और देहान्त-संवत् १९५७ वि० में हुआ था। वृन्दावन के भक्तिभावपूर्ण वातावरण का इनके ऊपर असर पड़ा और ये विरक्त हो गये तथा नौकरी छोड़ दी। इन्होंने हज़ारों पद लिखे हैं, जिनमें भक्ति की अद्‌भुत व्यंजना हुई है। 'व्रजविहार' नाम से इनका एक संग्रह प्रकाशित हुआ है।

ललितकिशोरी

इनका असली नाम शाह कुंदनलाल जी था। ये लखनऊ के शाह बिहारीलाल जौहरी के पौत्र और शाह गोविंदलाल के पुत्र थे। कौटुंबिक कलह से पीड़ित होकर ये वृंदावन में आकर बस रहे। यह संवत् १९१३ की बात है। इनके साथ इनके भाई शाह फुंदनलाल जी भी आये थे। ये दोनों भाई भक्त और कवि थे। शाह फुंदनलाल 'ललितमाधुरी' के उपनाम से कविता करते थे। इन लोगों के पदों की संख्या दस हज़ार से ऊपर होगी। इन्होंने वृंदावन में एक अत्यंत भव्य और विशाल

मंदिर बनवाया था। ललितकिशोरी जी के फुटकर पदों के अतिरिक्त 'वृहत् रसकलिका' और 'लघुरसकलिका' नामक ग्रंथ और छपे थे।

वैष्णव-भक्त कवियों की परम्परा श्री ललितकिशोरी पर समाप्त करते हुए यह कह देना आवश्यक है कि लगभग इनके समय तक हिन्दी-साहित्य में वैष्णव-भक्त कवियों की काव्यधारा जो विशिष्ट स्थान रखती आई थी, वह बाद में साहित्य की विविध चेष्टाओं में लुप्त-सा हो गया। व्रज-प्रदेश और उसके बाहर भी वैष्णव-भक्त कवि आज दिन तक अपनी भक्ति का प्रकाशन काव्य के माध्यम से करते आये हैं, और कदाचित् भविष्य में भी करते रहेंगे। परन्तु हिन्दी साहित्यिकों ने अब उनकी उपेक्षा करनी आरम्भ कर दी है और उनकी गणना आज के साहित्य में नहीं की जा रही है। संभव है, किसी सुदूर भविष्य के साहित्य-अन्वेषक प्राचीन पोथियों के ढेर में भक्तों की वाणी को पाकर उसका 'उद्धार' करने की चेष्टा करें। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि आज के हिन्दी-साहित्य में वैष्णव भक्ति-भावना का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रकाशन बिल्कुल नहीं होता। सच तो यह है कि हिन्दी के वैष्णव-कवियों ने हिन्दी के रीति-काल के कवियों को उत्तराधिकार में जो साहित्यिक प्रवृत्तियाँ दी थीं, वे आधुनिक काल तक चली आईं और व्रजभाषा-काव्य सूर से लेकर आज तक जिन मुख्य प्रवृत्तियों को अपनाये रहा वे निश्चय रूप से वैष्णव-काव्य की ही प्रवृत्तियाँ हैं। अतः व्रजभाषाकाव्य अनवरत रूप से एक सी प्रवृत्तियों में सीमित सा हो गया। वैष्णव कवियों का उत्तराधिकार हिन्दी का वह समस्त काव्य है, जिसे रीतिकालीन काव्य कहा गया है। इसके अतिरिक्त न केवल रीतिकालीन-धारा, बल्कि शुद्ध-भक्ति की धारा आज

तक हिन्दी-साहित्य में चली जा रही है। शुद्ध वैष्णव कवियों ने हिन्दी-साहित्य में जो योग दिया है, वह साहित्य के गौरव की वस्तु है। अब यहाँ पर हम वैष्णव-कवियों के उत्तराधिकार पर संक्षेप में विचार करते हैं।

वैष्णव-कवियों का उत्तराधिकार

सूरदासजी के काव्य के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शृंगार-रस-सम्बन्धी ऐसा कोई भी विषय नहीं है, जिस पर सूरदासजी के काव्य से उत्तम से उत्तम उदाहरण न दिये जा सकें। सूरदासजी के परवर्ती वैष्णव कवियों के लिए चाहे वे पुष्टिमार्ग के अनुयायी और प्रचारक न भी हों, सूरदासजी के काव्य का अनुकरण करना अनिवार्य सा हो गया। हरि-प्रेम का प्रकाशन वैष्णव-भक्ति का अंग था, अतः सूरदास द्वारा व्यक्त भाव वैष्णव-साहित्य में भिन्न-भिन्न प्रकार से बार-बार प्रत्येक वैष्णव-कवि द्वारा दुहराये जाने लगे। वैष्णव-कवियों के काव्योदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो चुकी है। तुलसीदासजी के काव्य को छोड़कर वैष्णव-काव्य में प्रत्यक्ष रूप से कोई आध्यात्मिक रंग नहीं था; घोर लौकिकता के गुप्त से गुप्त अंग को वैष्णव कवियों ने भक्ति का जामा पहनाकर अपने काव्य में सम्मिलित कर लिया था। उस काव्य में धर्म की चिन्ता किसी प्रकार भी नहीं दिखाई देती है। यही कारण है कि वैष्णव-साहित्य अपनी भाषा, भाव-प्रकाशन की शैली, भावानुभाव आदि सभी अंगों के साथ इस सरलता के साथ शुद्ध लौकिक साहित्य बन गया कि हमें इस परिवर्त्तन का एकाएक भान भी नहीं होता। कुछ आलोचक तो परिवर्त्तन की सत्यता को भी नहीं मानते हैं। उनके अनुसार भक्ति की

धारा समस्त व्रजभाषाकाव्य में अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होती रही, केवल भक्ति-भावना में व्यक्तिगत न्यूनाधिकता के कारण काव्य में कहीं लौकिकता और कहीं भक्ति की न्यूनाधिकता पाई जाती है। परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है; क्योंकि व्रजभाषा के परवर्त्ती कवियों ने, जिन्हें हमने वैष्णव कवियों में स्थान नहीं दिया है, अपने काव्य में वैष्णव कवियों की भाषा, शैली और भावों को अपनाते हुए भी वैष्णव काव्य की उस आत्मा को नहीं अपनाया जिसके कारण उसका सम्बन्ध, अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, धर्म के साथ अटूट और दृढ़ था। वैष्णव-साहित्य ने हृदयानुभूति की उत्तम से उत्तम प्रवृत्तियों को साहित्य की भेंट करते हुए जो सबसे महत्त्वपूर्ण उत्तराधिकार साहित्य को सौंपा, वह था साहित्य और धर्म का बराबरी का सम्मानपूर्ण समझौता बनाये रखने का अवसर। यही कारण था कि राधा-कृष्ण-काव्य के सर्वमान्य नायक बने रहे और उनके बहाने कवियों ने व्यक्ति की हार्दिक भावनाओं का विविध ढंग से खुलकर प्रकाशन किया। इनकी कविता को वैष्णव-भक्ति-साहित्य में बेरोकटोक उच्च स्थान दिया जा सकता है। नेवाज कवि का निम्न सवैया—चाहे उन्होंने किसी साधारण लौकिक परकीया नायिका के लिए ही लिखा हो—भाव, शैली, पदविन्यास आदि की दृष्टि से अच्छे से अच्छे भक्त कवि के काव्य में सम्मिलित हो सकता है :—

आगे तौ कीन्हीं लगालगी लोयन, कैसे छिपै अजहूँ जौ छिपावति।
तू अनुराग को सोध कियो, व्रज की बनिता तब यों ठहरावति॥
कौन सँकोच रह्यो है नेवाज, जो तू तरसै, उनहू तरसावति।
बावरी! जो पै कलंक लग्यौ तौ निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति॥

इसकी भक्तिभावना में जो कमी रह गई हो वह भी 'व्रज' शब्द के कारण पूरी हो जाती है।

परन्तु इन रीतिकालीन कवियों की कविता में से लौकिक साहित्य और भक्ति-साहित्य के अलग अलग उदाहरणों को छाँट लेना आसान काम नहीं है। कविवर भिखारीदास ने 'काव्य-निर्णय' की रचना शुद्ध साहित्यिक प्रेरणा से की थी। परन्तु काव्य-निर्णय में ऐसे 'उदाहरण' भरे पड़े हैं, जिनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे भक्ति की प्रेरणा से लिखे गये हैं या उनमें केवल वैष्णव काव्य की शैली और पदविन्यास तथा शृङ्गार रस के प्रतीक नामों को ही अपनाया गया है। नीचे का उदाहरण देखिए :—

ऊधो ! तहाँ ई चलौ लै हमें जहँ कूबरि कान्ह बसैं इक ठौरी।
देखिय दास अघाय अघाय तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी॥
कूबरी सों कछु पाइए मंत्र; लगाइए कान्ह सों प्रीति की डोरी।
कूबरि-भक्ति बढ़ाइए बंदि, चढ़ाइए चंदन बंदन रोरी॥

समस्त व्रजभाषा-काव्य में वैष्णव कवियों की शब्दावली इतनी प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुई है कि सहसा किसी कविता-विशेष के लिए कह देना कि यह भक्ति-भाव से प्रेरित होकर नहीं लिखी गई है, कठिन है। स्थानाभाव से हम अधिक उदाहरण न देकर यही दुहराकर संतोष करते हैं कि रीति-कालीन काव्य मूलतः भक्ति से प्रेरित होकर न लिखा जाकर भी वैष्णव कवियों की सीधी विरासत है। साथ ही अधिकांश रीतिकालीन कवि अपने धार्मिक जीवन में किसी न किसी वैष्णव संप्रदाय में दीक्षित थे; अतः समय समय पर लौकिक शृंगार के बीच बीच उन्होंने अपनी सच्ची

भक्ति-भावना का भी परिचय दिया है और अपनी विषय-लिप्सा पर पश्चात्ताप प्रकट किया है; जैसे देव कहते हैं :—

ऐसो जो मैं जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
ऐ रे मन मेरे, हाथ पाँव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतो देव चंचल अचल करि
चाबुक चितावनीन मारि मुँह मोरतो।
भारी प्रेम पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि
राधावर विरुद के वारिधि में बोरतो।

बिहारी जैसे घोर शृंगारी कहे जानेवाले कवि ने भक्ति की कैसी तन्मयता दिखाई है —

मोहूँ दीजे मोषु जो अनेक पतितनि दियौ।
जौ बाँधे ही तोषु तौ बाँधौ अपने गुनन॥
तौ बलियै भलियै बनी, नागर नंद किसोर।
जौ तुम नीके कै लखौ मो करनी की ओर॥

रीतिकाल के बाद भी ब्रजभाषा की परम्परा चलती रही और आधुनिक काल में भारतेंदु हरिश्चन्द्र, महाकवि रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न और वियोगी हरि ने अपने-अपने काव्य के द्वारा भक्ति-रसामृत के प्रवाह से साहित्य को अनुप्राणित किया है।

बाबू हरिश्चन्द्र तो वल्लभ-कुल के परम वैष्णव थे ही। उन्होंने अपना सिद्धान्त स्वयं लिखा है —

हम तौ मोल लिये या घर के।
दास दास श्री वल्लभ-कुल के चाकर राधावर के॥
माता श्री राधिका, पिता हरि बंधु दास गुनकर के।
हरीचंद, तुम्हरे ही कहावत, नहिं विधि के नहिं हर के॥

सेवक गुनीजन के चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत, चित हित गुनगानी के।
सीधेन सों सीधे, महा बाँके हम बाँकेन सों
'हरीचंद' नगद दमाद अभिमानी के।
चाहिवे की चाह काहू की न परवाह, नेही-
नेह के दिवाने सदा सूरति निवानी के।
सरबस रसिक के, सुदास दास प्रेमिन के
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधा रानी के॥

हरिश्चन्द्रजी की प्रेमिका निवानी-विषयक कविताएँ भक्ति-सम्बन्धिनी कविताओं से इतनी अधिक मिश्रित हो गई हैं कि दोनों को अलग कर सकना असम्भव सा है, जैसे —

हम चाकर राधारानी के।
ठाकुर श्री नँदनंदन के वृषभानु लली ठकुरानी के॥
निरभय रहत बदत न काहू डर नहिं डरत भवानी के।
हरीचंद नित रहत दिवाने सूरत अजब निवानी के॥

'रत्नाकर'जी कृष्ण और व्रजसाहित्य के परम भक्त थे। उन्होंने व्रज-साहित्य की सेवा में अपना प्रचुर समय और शक्ति लगाई थी।

उनकी मौलिक रचना 'उद्धव-शतक' वैष्णव-काव्य का एक अनमोल रत्न है, जिसमें काव्य-कला और भक्ति दोनों का अनूठा प्रस्फुटन हुआ है। कुछ उदाहरण देखिए—

मोर के पखौवन कौ मुकुट छबीलौ छोरि,
क्रीट मनि मंडित धराइ करिहैं कहा।
कहै रतनाकर ज्यों माखन-सनेही बिनु
षट रस व्यंजन चबाइ करिहैं कहा।
गोपी ग्वाल-बालन कौ झोंकि बिरहानल मैं
हरि सुर-वृंद की बलाइ करिहै कहा।
प्यारौ नाम गोविंद गोपाल कौ बिहाइ हाय!
ठाकुर त्रिलोक के कहाय करिहैं कहा॥

कर बिनु कैसें गाय दुहिहै हमारी वह
पद बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइहैं।
कहै रतनाकर बदन बिनु कैसें चाखि
माखन बजाइ बेनु गोधन गवाइहैं॥
देखि सुनि कैसें दृग-स्रवन बिना ही हाइ
भोरे ब्रजबासिन की बिपति बराइहै।
रावरौ अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म
ऊधौ कहौ कौन धौं हमारे काम आइहै॥

कविवर सत्यनारायण परम भावुक और ब्रज-भक्त थे। उनके जीवन पर विचार करने से ऐसा लगता है मानों उनके रोम-रोम में भावुकता

कूट-कूटकर भरी थी। मृदुल भावुकता के ही कारण वे इस खरे और व्यापारी संसार में अधिक दिन जीवित नहीं रह सके। 'भ्रमरदूत' लिखकर उन्होंने कृष्ण-काव्य में बीसवीं सदी के सुधारवादी विचार भरकर कृष्ण-काव्य को एक नई दिशा दिखाई। इनकी कविता का उदाहरण देखिए :—

अब न सतावौ।
करुनाधर इन नैनन सौं द्वै बुँदिया तौ टपकावौ॥
सारे जग सों अधिक कियौ का हमने ऐसो पाप।
नित नव नई निर्दई बनि जौ देत हमैं संताप॥
साँची तुमहिं सुनावत जो हम चौंकत सकल समाज।
अपनी जाँघ उघारैं उघरति बस अपनी ही लाज॥
तुम आछे हम बुरेइ सही बस हमरौ ही अपराध।
करनो हो सो अजहूँ कीजे लीजे पुन्य अगाध॥
होरी सी जातीय प्रेम की फूँकि न धूरि उड़ावौ।
जुग कर जोरि यही 'सत' माँगत अलग न और लगावौ॥

ऐसे नवीन विचारों को आधुनिक कवियों में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय और श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी अपने-अपने वैष्णव-काव्यों में सम्मिलित किया है। उपाध्यायजी ने अपने खड़ी बोली के कृष्णकाव्य 'प्रियप्रवास' में प्राचीन भावनाओं के साथ नवीन विचारों को भरकर वैष्णव काव्य का और अधिक विस्तृत रूप उपस्थित किया है। अभी इन्होंने 'वैदेहीवनवास' लिखकर रामकाव्य में एक और महाकाव्य की वृद्धि की है। गुप्तजी ने 'साकेत' रचकर रामकाव्य में नवीन विचारों को

सम्मिलित करके उसके विस्तार को और अधिक बढ़ाया है। 'द्वापर' में कृष्णकाव्य के सम्बन्ध में इनकी नवीन कल्पनाओं का परिचय मिलता है। वैष्णवों की उदारता, सहिष्णुता, प्रेम-पूर्ण आस्तिक भक्ति, भूत-दया, अहिंसा आदि भावनाएँ आधुनिक काव्य में व्यक्त होकर वैष्णव काव्य की परंपरा को अप्रत्यक्ष रूप से वर्द्धमान करती हुई पाई जाती हैं।

आगामी २०० पुस्तकें

नीचे लिखी २०० पुस्तकें शीघ्र ही छप रही हैं। ये हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों-द्वारा लिखाई गई हैं। आप भी इनमें से अपनी रुचि की पुस्तकें अभी से चुन रखिए और अपने चुनाव से हमें सूचित भी करने की कृपा कीजिए।

विचार-धारा

मानव-संबंधी

(१) जीवन का आनन्द
(२) ज्ञान और कर्म
(३) मेरे अन्त समय के विचार
(४) मनुष्य के अधिकार
(५) प्राच्य और पाश्चात्य समस्या
(६) मानव-धर्म
(७) जातियों का विकास
(८) विश्व-प्रहेलिका

समाज-संबंधी

(१) संस्कृति और सभ्यता का विकास
(२) विवाह-प्रथा, प्राचीन और आधुनिक
(३) सामाजिक आन्दोलन
(४) धर्म का इतिहास
(५) नारी
(६) दरिद्र का क्रन्दन

राजनीति-संबंधी

(१) समाजवाद
(२) चीन का स्वातन्त्र्य-प्रयत्न
(३) राष्ट्रों का संघर्ष
(४) स्वाधीनता और आधुनिक युग
(५) युवक का स्वप्न
(६) योरपीय महायुद्ध
(७) मूल्य, दर और लाभ

विश्व-उपन्यास

(१) तावीज़
(२) आना केरेनिना
(३) मिलितोना
(४) डा० जेकिल और मि० हाइड
(५) पम्पियायी के अन्तिम दिन
(६) अमर नगरी
(७) काला फूल
(८) चार सवार
(९) रेबेका
(१०) डेविड कूपर फ़ील्ड
(११) जेन्डा का क़ैदी
(१२) वेनहूर
(१३) कोवेडिस
(१४) रोमियो-जूलियट
(१५) दो नगरों की कहानी
(१६) टेस
(१७) रहस्यमयी

आधुनिक उपन्यास

(१) चुनारगढ़
(२) विषादिनी

(३) कालरात्रि
(४) मुक्ति
(५) यादगार
(६) द्वादशिको
(७) दाना-पानी
(८) विप्लव
(९) जलती निशानी
(१०) ग्रहचक्र
(११) कजरी
(१२) जयमाला
(१३) उत्कंठिता
(१४) लहर
(१५) विचित्रा (नाटक)
(१६) जयंती
(१७) आलमगीर
(१८) कर्णार्जुन

रहस्य-रोमांच

(१) ताज का रहस्य
(२) शैतान
(३) धन का मोह
(४) कोशलगढ़ का किसान
(५) पहाड़ी फूल
(६) अन्तिम परिणाम
(७) अद्भुत जाल
(८) मृत्यु का व्यापारी
(९) यौवनाशिखा
(१०) विद्रोही
(११) छिपा खजाना
(१२) गर्विता
(१३) चेतावनी
(१४) देश के लिए
(१५) दोस्त
(१६) चाँदी की कुञ्जी
(१७) आदर्श युवक
(१८) हुल्लड़
(१९) शैतान डाक्टर
(२०) प्रतिशोध
(२१) अन्याय का अन्त
(२२) प्रोफ़ेसर चौधरी
(२३) वज्राघात
(२४) समय का फेर
(२५) डाक्टर कोठारी का लोभ
(२६) चीन का जादू
(२७) नीला चश्मा
(२८) हार
(२९) अफ़रीदी डाकू
(३०) ख़तरे की राह
(३१) मकड़ी का जाला
(३२) अदृश्य आदमी
(३३) साहस का पहाड़
(३४) अंधेरखाता
(३५) कंकन का चोर
(३६) अपूर्व सुन्दरी
(३७) लौह लेखनी
(३८) गुप-चुप
(३९) लाल लिफ़ाफ़ा
(४०) कल की डाक

कहानी-संग्रह

('क' विभाग)—विदेशी भाषाओं की चुनी हुई कहानियाँ—५ भाग

('ख' विभाग)—लेखकों की अपनी चुनी हुई कहानियाँ—५ भाग
('ग' विभाग)—विभिन्न विषयों पर चुनी हुई कहानियाँ—५ भाग
('घ' विभाग)—भारतीय भाषाओं की चुनी हुई कहानियाँ—६ भाग

विज्ञान

(१) स्वास्थ्य और रोग
(२) जानवरों की दुनिया
(३) आकाश की कथा
(४) समुद्र की कथा
(५) खाद-विज्ञान
(६) मनुष्य की उत्पत्ति
(७) प्राकृतिक चिकित्सा
(८) विज्ञान का व्यावहारिक रूप
(९) प्रकृति की विचित्रतायें
(१०) वायु पर विजय
(११) विज्ञान के चमत्कार
(१२) विचित्र जगत्
(१३) आधुनिक आविष्कार

हिन्दी-साहित्य

अमर साहित्य

(१) वैष्णवपदावली
(२) मीरा के पद
(३) नीति-संग्रह
(४) हिन्दी की सूफी कविता
(५) प्रेममार्गी रसखान और घनानन्द
(६) सन्तों की वाणी
(७) सूरदास
(८) तुलसीदास
(९) कबीरदास
(१०) बिहारी
(११) पद्माकर
(१२) श्री भारतेन्दु

साहित्य-विवेचन-निबंध-संग्रह, इत्यादि

(१) हिन्दी-साहित्य में नूतन प्रवृत्तियाँ
(२) हिन्दी-कविता में नारी
(३) हिन्दी के उपन्यास
(४) हिन्दी में हास्य-रस
(५) हिन्दी के पत्र और पत्रकार ?
(६) हिन्दी का वीर-काव्य
(७) नवीन कविता, किधर ?
(८) व्रजभाषा की देन
(९) हिन्दी के निर्माता (द्वितीय भाग)
(१०) बालकृष्ण भट्ट
(११) बालमुकुन्द गुप्त
(१२) महावीरप्रसाद द्विवेदी
(१३) बाबू श्यामसुन्दरदास

धर्म

(१) गीता (शङ्करभाष्य)
(२) ,, (रामानुजभाष्य)
(३) ,, (मधुसूदनी टीका)
(४) ,, (शङ्करानन्दी टीका)
(५) ,, (केशव काश्मीरी की टीका)
(६) योगवाशिष्ठ (११ मुख्य आख्यान)

(७) सरल उपनिषद् (ईश, केन, कठ, मुंडक, प्रश्न, ऐतरेय, तैतिरीय, श्वेताश्वतर आदि) २ भाग

(८) पुराण (समस्त पुराणों के चुने हुए शिक्षाप्रद और मनोमोहक कथानक)

(९) महाभारत के निम्नाङ्कित अंश
क–(विदुरनीति)
ख–(सनक सुजातीय)
ग–(नारायणीय उपाख्यान)
घ–(श्रीकृष्ण के समस्त व्याख्यान)
ङ–(वन, शान्ति और अनुशासन-पर्व के आख्यान)

(१०) पातञ्जल योगदर्शन (व्यास भाष्य)

(११) तंत्र सर्वस्व

(१२) पौराणिक संतों के चरित्र

(१३) उत्तर-भारत के मध्यकालीन संत

(१४) दक्षिण-भारत के संत

(१५) आधुनिक संतों की जीवनी (श्री अरविन्द, रमण महर्षि, विवेकानन्द, उड़िया बाबा आदि)

(१६) पतिव्रताओं और सतियों के चरित्र

ऐतिहासिक विचित्र कथा

(१) भारत का प्राचीन गौरव

(२) प्राचीन मिस्र का रहस्य

(३) प्राचीन ग्रीक की सभ्यता

(४) मृत्युलोक की झांकी

(५) अमेरिका का स्वाधीनता-युद्ध

(६) फ्रांस की राजक्रांति

(७) रोमनसाम्राज्य का पतन

(८) क्रांति की विभीषिका

(९) रोम के महापुरुष

(१०) इत्सिंग का भारत-भ्रमण

(११) ध्रुव प्रदेश की खोज में

(१२) प्राचीन तिब्बत

(१३) सहारा की विचित्र बातें

(१४) मरहठों का उदय और अस्त

(१५) सिक्खों का उत्थान और पतन

(१६) भारत के पूर्वी उपनिवेश

(१७) मुग़लसाम्राज्य में भ्रमण

(१८) मुग़लों का दरबार

(१९) लखनऊ की शाहजादियां

(२०) विदेशी यात्रियों का भारत-वर्णन

(२१) नरभक्षकों के देश में—

(२२) पशुओं, मानवों और देवों में—

जीवन-चरित्र

(१) नेपोलियन बोनापार्ट

(२) लेनिन

(३) भारतीय राजनीति के स्तम्भ (१)

(४) तुर्की का पिता कमाल

(५) मेजिनी—इटली का वीर

(६) सन-यात-सेन—चीन का नायक

(७) एब्राहिम लिंकन—अमेरिका का नेता